॥ श्री सुधर्मास्वामीने नमः ॥

अहो ! श्रुतम् - स्वाध्याय संग्रह [९]

प्रशमरति

[गाथा और अर्थ]

—: प्रकाशक :—

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभंडार

साबरमती, अहमदाबाद

॥ श्री सुधर्मास्वामीने नमः ॥

अहो ! श्रुतम् - स्वाध्याय संग्रह [९]

प्रशमरति

[गाथा और अर्थ]

कर्ता :— श्रुतधर उमास्वातीजी महाराजः

अनुवादक :— पू.आ. श्रीभद्रगुप्तसूरिजी

—: संकलन :—

श्रुतोपासक

—: प्रकाशक :—

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभण्डार

शा. वीमळाबेन सरेमल जवेरचंदजी बेडावाळा भवन

हीराजैन सोसायटी, साबरमती, अमदाबाद-३८०००५

Mo. 9426585904

email - ahoshrut.bs@gmail.com

प्रकाशक : श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभण्डार

प्रकाशन : संवत २०७४

आवृत्ति : प्रथम

ज्ञाननिधि में से
पू. संयमी भगवंतो और ज्ञानभण्डार को भेट...
गृहस्थ किसी भी संघ के ज्ञान खाते में
३० रुपये अर्पण करके मालिकी कर सकते हैं।

प्राप्तिस्थान :

(१) **सरेमल जवेरचंद फाईनफेब (प्रा.) ली.**
672/11, बोम्बे मार्केट, रेलवेपुरा, अहमदाबाद-३८०००२
फोन : 22132543 (मो.) 9426585904

(२) **कुलीन के. शाह**
आदिनाथ मेडीसीन, Tu-02 शंखेश्वर कोम्पलेक्ष, कैलाशनगर, सुरत
(मो.) 9574696000

(३) **शा. रमेशकुमार एच. जैन**
A-901 गुंदेचा गार्डन, लालबाग, मुंबई-१२.
(मो.) 9820016941

(४) **श्री विनीत जैन**
जगद्गुरु हीरसूरीश्वरजी जैन ज्ञानभण्डार,
चंदनबाला भवन, १२९, शाहुकर पेठ के पास, मीन्ट स्ट्रीट, चेन्नाई-१
फोन : 044-23463107 (मो.) 9389096009

(५) **शा. हसमुखलाल शान्तीलाल राठोड**
७/८ वीरभारत सोसायटी, टीम्बर मार्केट, भवानीपेठ, पूना.
(मो.) 9422315985

मुद्रक : विरति ग्राफिक्स, अहमदाबाद, मो. **8530520629**
Email Id: Virtigrafics2893@gmail.com

प्रशमरति

नाभेयाद्याः सिद्धार्थराजसूनुचरमाश्चरमदेहाः ।
पञ्चनवदश च दशविधधर्मविधिविदो जयन्ति जिनाः ॥१॥

अर्थ : चरमशरीरी एवं दशप्रकार के यतिधर्म को जाननेवाले नाभिपुत्र (आदिनाथ) जिनमें प्रथम हैं, एवं सिद्धार्थ-पुत्र (वर्धमानस्वामी) अन्तिम हैं, ऐसे ५-९-१० = २४ (चौबीस) जिन [तीर्थंकर] जयशील बन रहे हैं ! ॥१॥

जिनसिद्धाचार्योपाध्यायान् प्रणिपत्य सर्वसाधूंश्च ।
प्रशमरतिस्थैर्यार्थं वक्ष्ये जिनशासनात् किञ्चित् ॥२॥

अर्थ : जिन, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं सर्व साधु भगवन्तों को नमस्कार करके प्रशम (वैराग्य) में प्रीतिभाव की निश्चलता के लिए (प्रशम की प्रीति में मुमुक्षु आत्मा कैसे स्थिर हो, इसलिए) जिनशासन में से कुछ कहूँगा ॥२॥

यद्यप्यनन्तगमपर्यायार्थहेतुनयशब्दरत्नाढ्यम् ।
सर्वज्ञशासनपुरं प्रवेष्टुमबहुश्रुतैर्दुःखम् ॥३॥

अर्थ : अनन्त गम (अर्थ-मार्ग) पर्याय (द्रव्य की अवस्था) अर्थ (पद के अर्थ) हेतु (कारण) नय (नैगम संग्रहादि) शब्द (शब्दप्राभृत में प्रतिपादित) इन विविध रत्नों से वैभवयुक्त एवं गहन ऐसे सर्वज्ञ शासन रूपी नगर में, हालांकि अबहुश्रुत जीवों के लिए प्रवेश करना अशक्य ही है ॥३॥

श्रुतबुद्धिविभवपरिहीणकस्तथाऽप्यहमशक्तिमविचिन्त्य ।
द्रमक इवावयवोञ्छकमन्वेष्टुं तत्प्रवेशेप्सुः ॥४॥

अर्थ : श्रुतज्ञान एवं औत्पातिकी वगैरह बुद्धि-वैभव से रहित होते हुए भी मैं (ग्रन्थकार) अपनी अशक्ति की परवाह किये बिना, रंक व्यक्ति की भांति (जैसे रंक व्यक्ति बिखरे हुए धान्य कणों का संचय करता है ठीक वैसे) बिखरे हुए प्रवचन-अर्थ रूप अवयव (दानों) की गवेषणा करने के लिए उसमें (सर्वज्ञ-शासनरूपी नगर में) प्रवेश पाना चाहता हूँ ॥४॥

बहुभिर्जिनवचनार्णवपारगतैः कविवृषैर्महामतिभिः ।
पूर्वमनेकाः प्रथिताः प्रशमजननशास्त्रपद्धतयः ॥५॥

अर्थ : जिनवचनरूपी सागर की सीमा तक पहुँचे हुए चौदह पूर्वधरों ने जो कि श्रेष्ठ कवि थे, बुद्धिवैभव के धनी थे, उन्होंने मेरे से पहले वैराग्य को पैदा करनेवाली अनेक

ग्रन्थरचनाएँ की हैं ॥५॥

ताभ्यो विसृताः श्रुतवाक्पुलाकिकाः प्रवचनाश्रिताः काश्चित् ।
पारम्पर्यादुच्छेषिकाः कृपणकेन संहृत्य ॥६॥

तद्भक्तिबलार्पितया मयाऽप्यविमलाल्पतया स्वमतिशक्त्या ।
प्रशमेष्टतयाऽनुसृताः विरागमार्गैकपदिकेयम् ॥७॥

अर्थ : पूर्वोक्त शास्त्ररचनाओं में से निकले हुए जिनवचनानुसारी कुछ आगमवचनरूप धान्य के तुच्छ दानों को, जो कि गुरुपरम्परा से बचे हैं, अल्प ही हैं, फिर भी उन्हें इकट्ठे करके रंक सा मैं जो महापुरुष जिनवचनरूप तुच्छ अनाज के दानों को रख गये, उनके प्रति प्रीति की समर्थता से, अथवा तो रहे हुए आगमवचनरूप तुच्छ दानों के प्रति भक्ति के भाव से, मुझे मिली हुई अल्प या ज्यादा अस्वच्छ बुद्धि की शक्ति से मैंने उस वैराग्यमार्ग को ही एक जननी की नीक बनायी (प्रशमरति की रचना की) क्योंकि मुझे प्रशम अत्यन्त प्रिय है ॥६-७॥

यद्यप्यवगीतार्था न वा कठोरप्रकृष्टभावार्थाः ।
सद्भिस्तथापि मय्यनुकम्पैकरसैरनुग्राह्या ॥८॥

अर्थ : हालांकि, इस प्रशमरति में आदरणीय विषय नहीं है, विद्वद्जन योग्य गंभीर अर्थ भी नहीं है, प्रकृष्ट भावों से परिपूर्ण अर्थ भी नहीं है, तथापि अनुकम्पा ही जिनका

स्वभाव हैं, ऐसे सज्जनों को चाहिए कि अनुकम्पा के योग्य ऐसे मेरे प्रति दया रखते हुए मेरी इस ग्रन्थरचना को स्वीकार करें ॥८॥

कोऽत्र निमित्तं वक्ष्यति निसर्गमतिसुनिपुणोऽपि वा ह्यन्यत् ।
दोषमलिनेऽपि सन्तो यद् गुणसारग्रहणदक्षाः ॥९॥

अर्थ : स्वाभाविक बुद्धि से अतीव कुशल मनुष्य भी [‘वाद्यन्यत्’ पाठानुसार ‘वादी’ भी] यहाँ सज्जनों के सौजन्य के विषय में और कौन सा कारण प्रस्तुत करेगा ? अर्थात् सुनिपुण व्यक्ति भी स्वभाव के अलावा अन्य कोई कारण बतलाने में असमर्थ है । सज्जनों का यह स्वभाव ही है कि परगुणों का उत्कीर्तन करना एवं परदोष कहने में मौन रहना । दूसरों के दोषयुक्त वचन में भी सज्जन गुण ग्रहण करने में निपुण होते हैं ॥९॥

सद्भिः सुपरिगृहीतं यत् किञ्चिदपि प्रकाशतां याति ।
मलिनोऽपि यथा हरिणः प्रकाशते पूर्णचन्द्रस्थः ॥१०॥

अर्थ : सज्जनों के द्वारा आदरपूर्वक स्वीकृत थोड़ा बहुत भी (दोषयुक्त भी) इस संसार में प्रसिद्धि प्राप्त करता है [यह सज्जनों को स्वीकृत है, इस प्रकार विद्वत् समाज में प्रख्यात होता है] जिस प्रकार मलिन (श्याम) ऐसा हिरण भी पूर्ण चन्द्र में रहने से शोभित होता है ॥१०॥

बालस्य यथा वचनं काहलमपि शोभते पितृसकाशे ।
तद्वत् सज्जनमध्ये प्रलपितमपि सिद्धिमुपयाति ॥११॥

अर्थ : स्पष्ट शब्दोच्चार करने में असमर्थ ऐसे नन्हे-मुन्हे (बच्चे) के तुतलाते वचन पिता को प्यारे लगते हैं, ठीक उसी तरह (बच्चे के तुतलाते वचन की भांति) असम्बद्ध वाक्यरचना भी सज्जनों के बीच प्रसिद्ध हो जाती है ॥११॥

ये तीर्थकृत्प्रणीता भावास्तदनन्तरैश्च परिकथिताः ।
तेषां बहुशोऽप्यनुकीर्तनं भवति पुष्टिकरमेव ॥१२॥

अर्थ : तीर्थंकरों के द्वारा प्रणीत जो जीव वगैरह भाव (पदार्थ) एवं उनके बाद गणधरों के द्वारा एवं गणधर-शिष्यों के द्वारा प्ररूपित जो भाव, उन भावों का पुनः पुनः अनुकीर्तन करने से, ज्ञान-दर्शन एवं चारित्र की पुष्टि ही होती है [क्योंकि इससे कर्मनिर्जरा और उसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥१२॥]

यद्वदुपयुक्तपूर्वमपि भैषजं सेव्यतेऽर्त्तिनाशाय ।
तद्वद्रागार्त्तिहरं बहुशोऽप्यनुयोज्यमर्थपदम् ॥१३॥

अर्थ : व्याधिकृत वेदना के उपशमन हेतु विश्वसनीय औषध का सेवन प्रतिदिन किया जाता है, उसी प्रकार रागद्वेष से बन्धे हुए कर्मों के द्वारा होती हुई तीव्र-मध्यम-मन्द वेदना के अपाहार हेतु (शान्ति हेतु) अर्थ प्रधान वाक्य

अनेक बार बोलना चाहिए ॥१३॥

यद्वद्विषघातार्थं मन्त्रपदे न पुनरूक्तदोषोऽस्ति ।
तद्वद्रागविषघ्नं पुनरूक्तमदुष्टमर्थपदम् ॥१४॥

अर्थ : जिस तरह सर्प एवं बिच्छु आदि के जहर को उतारने के लिए मन्त्रवेत्ता पुरुष ऊँकार आदि मन्त्र पदों का उच्चारण बार-बार करते हैं, इसमें पुनरुक्ति (बार-बार एक ही शब्द बोलना) दोष नहीं है, उसी प्रकार रागद्वेष को नष्ट करने वाले अर्थयुक्त वाक्यों को बार-बार रटना भी दोषरहित है (अर्थात् वहाँ 'पुनरुक्ति' दोष नहीं हैं) ॥१४॥

वृत्त्यर्थं कर्म यथा तदेव लोकः पुनः पुनः कुरुते ।
एवं विरागवार्ताहेतुरपि पुनः पुनश्चिन्त्यः ॥१५॥

अर्थ : जिस तरह अपने या कुटुम्ब के पालन-पोषण हेतु समुचित धन-धान्य से युक्त मनुष्य भी प्रति वर्ष खेती वगैरह कार्य करता रहता है; ठीक उसी तरह, वैराग्यवार्ता के हेतुभूत अध्ययन-मनन पुनः पुनः करना उचित है ॥१५॥

दृढतामुपैति वैराग्यभावना येन येन भावेन ।
तस्मिंस्तस्मिन् कार्यः कायमनोवाग्भिरभ्यासः ॥१६॥

अर्थ : अन्तःकरण के जिन-जिन विशिष्ट परिणामों के माध्यम से [जन्म-जरा-मृत्यु-शरीर इत्यादि की आलोचना वगैरह से] वैराग्य भावना बनती ही होती हो, उस कार्य में

मन-वचन-काया से अभ्यास-प्रयत्न करना चाहिए ॥१६॥

माध्यस्थ्यं वैराग्यं विरागता शान्तिरुपशमः प्रशमः ।
दोषक्षयः कषायविजयश्च वैराग्यपर्यायाः ॥१७॥

अर्थ : [१] माध्यस्थ [२] वैराग्य [३] विरागता [४] शान्ति [५] उपशम [६] प्रशम [७] दोषक्षय [८] कषायविजय ये सब वैराग्य के पर्याय हैं ॥१७॥

इच्छा मूर्च्छा कामः स्नेहो गार्ध्यं ममत्वमभिनन्दः ।
अभिलाष इत्यनेकानि रागपर्यायवचनानि ॥१८॥

अर्थ : इच्छा, मूर्च्छा, काम, स्नेह, गृद्धता, ममत्व, अभिनन्द (परितोष) एवं अभिलाष ये राग के अनेक पर्याय हैं ॥१८॥

ईर्ष्या रोषो दोषो द्वेषः परिवादमत्सरासूयाः ।
वैर-प्रचण्डनाद्यानैके द्वेषस्य पर्यायाः ॥१९॥

अर्थ : (१) ईर्ष्या (२) रोष (३) दोष (४) द्वेष (५) परिवाद (६) मत्सर (७) असूया (८) वैर (९) प्रचंडन आदि द्वेष के अनेक पर्याय हैं ॥१९॥

रागद्वेषपरिगतो मिथ्यात्वोपहतकलुषया दृष्ट्या ।
पञ्चास्त्रवमलबहुलाऽऽर्त्तरौद्रतीव्राभिसन्धानः ॥२०॥

अर्थ : (१) रागद्वेष के परिणाम से युक्त (२) मिथ्यात्व से कलुषित बुद्धि के द्वारा प्राणतिपातादिक पाँच आश्रवों के

माध्यम से होने वाले कर्मबन्धनों से व्याप्त, (३) आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान की प्रकृष्ट अभिसन्धि [अभिप्राय] से युक्त ॥२०॥

कार्याकार्यविनिश्चयसंक्लेशविशुद्धिलक्षणैर्मूढः ।
आहारभयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाकलिग्रस्तः ॥२१॥

अर्थ : (४) कार्य [जीवरक्षादि] अकार्य [जीववधादि] के निर्णय करने में तथा क्लिष्टचित्तता एवं निर्मलचित्तता का ज्ञान करने में मूढ़ (५) आहार-भय-मैथुन-परिग्रह रूप संज्ञाओं के परिग्रह से युक्त ॥२१॥

क्लिष्टाष्टकर्मबन्धनबद्धनिकाचितगुरुर्गतिशतेषु ।
जन्ममरणैरजस्त्रं बहुविधपरिवर्तनाभ्रान्तः ॥२२॥

अर्थ : (६) सैकड़ों गतियों में पुनः पुनः भ्रमण करने के कारण ८ कर्मों के गाढ़ बन्धनों से आबद्ध, निकाचित बना हुआ [अतिनियन्त्रित बना हुआ] एवं इनके कारण भारी बना हुआ, (७) सतत् जन्म-जरा-मरण से अनेक रूपों में परिवर्तन करने से भ्रान्त ॥२२॥

दुःखसहस्त्रनिरन्तरगुरुभाराक्रान्तकर्षितः करुणः ।
विषयसुखानुगततृषः कषायवक्तव्यतामेति ॥२३॥

अर्थ : (८) नारक, तिर्यंच-मनुष्य और देव के भवों में हमेशा हजारों दुःखों के अति भार से आक्रान्त [पीड़ित] होने

के कारण दुर्बल बना हुआ, (९) दीन बना हुआ, (१०) विषय सुखों में आसक्त बना हुआ [विषय सुखों की तीव्र अभिलाषाओं से युक्त] जीव कषायवक्तव्यता को प्राप्त होता है अर्थात् क्रोधी-मानी-मायावी एवं लोभी कहलाता है ॥२३॥

स क्रोधमानमायालोभैरतिदुर्जयैः परामृष्टः ।
प्राप्नोति याननर्थान् कस्तानुद्देष्टुमपि शक्तः ? ॥२४॥

अर्थ : अतीव दुर्जय ऐसे क्रोध-मान-माया और लोभ से पराभूत बनी हुई आत्मा जिन-जिन आपत्तियों-अनर्थों का शिकार बनती है, उन आपत्तियों को नाममात्र से कहने में भी कौन समर्थ है ? ॥२४॥

क्रोधात् प्रीतिविनाशं मानाद् विनयोपघातमाप्नोति ।
शाठ्यात् प्रत्ययहानिः, सर्वगुणविनाशनं लोभात् ॥२५॥

अर्थ : क्रोध से प्रीति का नाश होता है, मान से विनय को हानि पहुँचती है, माया से विश्वास को धक्का लगता है और लोभ से सभी गुणों का नाश होता है ॥२५॥

क्रोधः परितापकरः सर्वस्योद्वेगकारकः क्रोधः ।
वैरानुषङ्गजनकः क्रोधः क्रोधः सुगतिहन्ता ॥२६॥

अर्थ : क्रोध सभी जीवों के लिए परिताप करने वाला है, सभी जीवों को उद्वेग देता है, वैर का अनुबंध पैदा करता है और सुगति-मोक्ष का नाश करता है ॥२६॥

श्रुतशीलविनयसन्दूषणस्य धर्मार्थकामविघ्नस्य ।
मानस्य कोऽवकाशं मुहूर्तमपि पण्डितो दद्यात् ॥२७॥

अर्थ : श्रुत, शील और विनय को दूषित करने वाले एवं धर्म और अर्थ काम–पुरुषार्थ में विघ्नकारक ऐसे मान को कौन विद्वान–पुरुष एक पल के लिए भी अपनी आत्मा में स्थान देगा ? ॥२७॥

मायाशीलः पुरुषो यद्यपि न करोति किञ्चिदपराधम् ।
सर्प इवाविश्वास्यो भवति तथाप्यात्मदोषहतः ॥२८॥

अर्थ : मायावी मनुष्य, चाहे मायाजनित कोई भी अपराध या गुनाह न करता हो फिर भी स्वयं के माया–दोष से उपहत बना वह साँप की भाँति अविश्वसनीय बनता है ॥२८॥

सर्वविनाशाश्रयिणः सर्वव्यसनैकराजमार्गस्य ।
लोभस्य को मुखगतः क्षणमपि दुःखान्तरमुपेयात् ? ॥२९॥

अर्थ : सारे अपायों का आश्रयस्थान, सारे दुःखों का–व्यसनों का मुख्य मार्ग सा जो लोभ, उसका शिकार बना हुआ कौन जीव [लोभपरिणामयुक्त] सुख प्राप्त करता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥२९॥

एवं क्रोधो मानो माया लोभश्च दुःखहेतुत्वात् ।
सत्त्वानां भवसंसारदुर्गमार्गप्रणेतारः ॥३०॥

अर्थ : इस भांति ये क्रोध, मान, माया और लोभ जीवात्माओं के दु:ख के कारणरूप होने से नरक वगैरह संसार के भयंकर मार्ग का निर्माण करने वाले हैं ॥३०॥

ममकाराहङ्कारावेषां मूलं पदद्वयं भवति ।
रागद्वेषावित्यपि तस्यैवान्यस्तु पर्यायः ॥३१॥

अर्थ : क्रोधादि कषायों की जड़ में दो बातें हैं : ममकार [ममत्व] और अहंकार [गर्व] उसके ही [ममकार और अहंकार के] राग द्वेष आदि अन्य पर्याय हैं ॥३१॥

मायालोभकषायश्चेत्येतद्रागसंज्ञितं द्वन्द्वम् ।
क्रोधो मानश्च पुनर्द्वेष इति समासनिर्दिष्टः ॥३२॥

अर्थ : माया और लोभ का युगल [Couple] राग है एवं क्रोध-मान का युगल द्वेष है, ऐसा संक्षेप में-थोडे में कहा जा सकता है ॥३२॥

मिथ्यादृष्ट्यविरमणप्रमादयोगास्तयोर्बलं दृष्टम् ।
तदुपगृहीतावष्टविधकर्मबन्धस्य हेतू तौ ॥३३॥

अर्थ : मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और मन-वचन-काया के योग, ये चार उन राग द्वेष के उपकारी हैं । वे मिथ्यात्वादि से उपगृहीत राग और द्वेष, आठ प्रकार के कर्मबन्धन में निमित्त-सहायक बनते हैं ॥३३॥

सज्ज्ञान-दर्शनावरण-वेद्य-मोहायुषां तथा नाम्नः ।
गोत्रान्तराययोश्चेति कर्मबन्धोऽष्टधा मौल ॥३४॥

अर्थ : कर्मबन्ध मूलरूप से आठ तरह का होता है (१) ज्ञानावरण का (२) दर्शनावरण का (३) वेदनीय का (४) मोहनीय का (५) आयुष्य का (६) नाम का (७) गोत्र का और (८) अन्तराय का ॥३४॥

पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिकश्चतुः षट्कसप्तगुणभेदः ।
द्विपञ्चभेद इति सप्तनवतिभेदास्तथोत्तरतः ॥३५॥

अर्थ : इस तरह क्रमशः पाँच, नौ, दो, अट्ठाइस, चार, बयालीश (६x७) दो और पाँच - इस तरह (आठ कर्मों के) सित्यानवें उत्तर भेद होते हैं ॥३५॥

प्रकृतिरियमनेकविधा स्थित्यनुभागप्रदेशतस्तस्याः ।
तीव्रो मन्दो मध्य इति भवति बन्धोदयविशेषः ॥३६॥

अर्थ : इस तरह यह प्रकृति अनेक प्रकार की (९७ प्रकार की) है । इस प्रकृति का स्थितिबंध, रसबंध [और प्रदेशबंध] होता है । जिससे विशिष्ट प्रकृतिबंध होता है वो तीव्र, मन्द और मध्यम बन्ध होता है । उदय भी (प्रकृतियों का) तीव्रादि भेद वाला होता है ॥३६॥

तत्र प्रदेशबन्धो योगात् तदनुभवनं कषायवशात् ।
स्थितिपाकविशेषस्तस्य भवति लेश्याविशेषेण ॥३७॥

अर्थ : [चार प्रकार से कर्मबन्ध में] प्रदेशबन्ध योग (मन-वचन-काया के) से होता है। उस प्रदेशबद्ध कर्म का अनुभव कषाय के वश होता है और स्थिति का पाक विशेष [जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट स्थिति का विशिष्ट निर्माण] लेश्या से होता है ॥३७॥

ताः कृष्णनीलकापोततैजसीपद्मशुक्लनामानः ।
श्लेष इव वर्णबन्धस्य कर्मबन्धस्थितिविधात्र्यः ॥३८॥

अर्थ : वे [लेश्याएँ] कृष्ण, नील, कापोत, तैजस, पद्म और शुक्ल नामक लेश्याएँ कर्मबन्ध में स्थिति का निर्माण करने वाली हैं, जैसे की रंगों को बांधने में गोंद ॥३८॥

कर्मोदयाद् भवगतिर्भवगतिमूला शरीरनिर्वृत्तिः ।
देहादिन्द्रियविषया विषयनिमित्ते च सुखदुःखे ॥३९॥

अर्थ : उस कर्म के विपाकोदय से नरकादि गतियाँ होती हैं और देहनिर्माण का बीज भी यही नरकादि भवगति है। उस देह से इन्द्रियों के विषय और विषनिमित्तक सुख और दुःख। [सुखानुभव एवं दुःखानुभव होता है ॥३९॥]

दुःखद्विट् सुखलिप्सुर्मोहान्धत्वाददृष्टगुणदोषः ।
यां यां करोति चेष्टां तया तया दुःखमादत्ते ॥४०॥

अर्थ : दुःख का द्वेषी और सुख की लालसा वाला [जीव] मोहान्ध हो जाने से गुण या दोष नहीं देखता है, वो

जो जो चेष्टाएँ करता है [मन–वचन–काया का क्रिया करता है] उससे दुःख प्राप्त करता है। [दुःख की अनुभूति करता है ॥४०॥]

कलरिभितमधुरगान्धर्वतूर्यः योषिद्विभूषणरवाद्यैः ।
श्रोत्रावबद्धहृदयो हरिण इव विनाशमुपयाति ॥४१॥

अर्थ : कलायुक्त [मात्रायुक्त] रिभित [गांधर्व आवाज] एवं मधुर [ऐसे] गन्धर्व के वाजिंत्रों की ध्वनि और स्त्रियों के आभूषणों से उत्पन्न ध्वनि आदि, ऐसे मनोहारी शब्दों से श्रोत्रेन्द्रियपरवश हृदय हैं उन हिरणों की भांति [प्रमादी] विनाश पाता है ॥४१॥

गतिविभ्रमेङ्गिताकारहास्यलीलाकटाक्षविक्षिप्तः ।
रूपावेशितचक्षुः शलभ इव विपद्यते विवशः ॥४२॥

अर्थ : सविकार गति, स्निग्ध दृष्टि, मुँह–छाती आदि आकार, सविलास हास्य और कटाक्ष से विक्षिप्त [मनुष्य], स्त्री के रूप में जिसने अपनी दृष्टि स्थापित की है और जो विवश बना है वह मनुष्य पतंगे की भांति जलकर नष्ट होता है ॥४२॥

स्नानाङ्गरागवर्तिकवर्णकधूपाधिवासपटवासैः ।
गन्धभ्रमितमनस्को मधुकर इव नाशमुपयाति ॥४३॥

अर्थ : स्नान, विलेपन, (विविध) वर्णीय अगरबत्ती,

अधिवास [मालती आदि फूलों की] और सुगन्धित द्रव्य-चूर्णों के गन्ध से भ्रमित (आक्षिप्त) मनवाला [मनुष्य] भ्रमर की भांति नाश पाता है। ॥४३॥

मिष्टान्नपानमांसोदनादि-मधुररसविषयगृद्धात्मा ।
गलयन्त्रपाशबद्धो मीन इव विनाशमुपयाति ॥४४॥

अर्थ : अत्यन्त स्वादिष्ट भोजन, मद्यपान, मांस, ओदन [चावल] और मधुर रस [शक्कर इत्यादि] [रसना के] इन विषयों में आसक्त आत्मा लौहयन्त्र में और तन्तुजाल में फंसी हुई परवश बनी मछली की भांति मृत्यु पाती है। ॥४४॥

शयनासनसम्बाधनसुरतस्नानानुलेपनासक्तः ।
स्पर्शव्याकुलितमतिर्गजेन्द्र इव बध्यते मूढः ॥४५॥

अर्थ : शय्या, आसन, अंगमर्दन, चुंबन, आलिंगनादि, स्नान-विलेपन इत्यादि स्पर्श में आसक्त स्पर्श के सुख से मोहित बुद्धिवाला मूढ़ [जीव] हाथी की भांति बंध जाता है। ॥४५॥

एवमनेके दोषाः प्रणष्टशिष्टेष्टदृष्टिचेष्टानाम् ।
दुर्नियमितेन्द्रियाणां भवन्ति बाधाकरा बहुशः ॥४६॥

अर्थ : विवेकी पुरुषों को इष्ट ऐसे ज्ञान और क्रिया (उभय-दोनों) जिनके नष्ट हो चुके हैं और दोषों में दौड़ती इन्द्रियाँ जिनकी नियन्त्रित नहीं हैं, उनको इस भांति (और भी) अनेक दोष बार-बार पीड़ाकारी बनते हैं। ॥४६॥

एकैकविषयसङ्गाद् रागद्वेषातुरा विनष्टास्ते ।
किं पुनरनियमितात्मा जीवः पञ्चेन्द्रियवशार्तः ? ॥४७॥

अर्थ : एक-एक विषय के संग में राग-द्वेष से रोगी बने [हिरन वगैरह] जीव नष्ट हो चुके तो फिर पाँचों इन्द्रियों को परवशता से जो व्याकुल हैं और जो आत्मा को नियमित नहीं रख पाते उनका क्या होगा ? ॥४७॥

न हि सोऽस्तीन्द्रियविषयो येनाभ्यस्तेन नित्यतृषितानि ।
तृप्तिं प्राप्नुयुरक्षाण्यनेकमार्गप्रलीनानि ॥४८॥

अर्थ : ऐसा कोई भी विषय नहीं है इन्द्रियों का, जिसका पुनः पुनः आसेवन करने से हमेशा प्यासी और अनेक मार्गों में [शब्दादि विषयजन्य अनेक प्रकारों में] खूब लीन बनी हुई इन्द्रियाँ तृप्ति पाएँ । ॥४८॥

कश्चिच्छुभोऽपि विषयः परिणामवशात्पुनर्भवत्यशुभः ।
कश्चिदशुभोऽपि भूत्वा कालेन पुनः शुभीभवति ॥४९॥

अर्थ : कोई इष्ट विषय भी अध्यवसाय के कारण (द्वेष के परिणामरूप) अनिष्ट बनता है और कोई अशुभ विषय भी कालान्तर से (राग के परिणाम) से इष्ट बनता है । ॥४९॥

कारणवशेन यद्यत् प्रयोजनं जायते यथा यत्र ।
तेन तथा तं विषयं शुभमशुभं वा प्रकल्पयति ॥५०॥

अर्थ : जिन कारणों से जिस तरह जो जो प्रयोजन पैदा

होते हैं, उसी तरह उत्पन्न हुए प्रयोजन से वह विषय को अच्छा या बुरा मानता है। ॥५०॥

अन्येषां यो विषयः स्वाभिप्रायेण भवति तुष्टिकरः।
स्वमतिविकल्पाभिरतास्तमेव भूयो द्विषन्त्यन्ये ॥५१॥

अर्थ : दूसरों को जो विषय [शब्द, रूप वगैरह] अपने मनोपरिणाम से परितोष करने वाले बनते हैं वे ही विषय अन्य पुरुषों के लिए जो कि अपने मन के विकल्पों में डूबे रहते हैं, द्वेष का कारण बनते हैं। ॥५१॥

तानेवार्थान् द्विषतस्तानेवार्थान् प्रलीयमानस्य।
निश्चयतोऽस्यानिष्टं न विद्यते किञ्चिदिष्टं वा ॥५२॥

अर्थ : उन्हीं [इष्ट] शब्दादि विषयों का द्वेष करते हुए और उन्हीं [अनिष्ट] विषयों में तन्मय बनते हुए इसको [विषयभोगी को] पारमार्थिक, रूप से न तो कुछ इष्ट है और नही अनिष्ट है। ॥५२॥

रागद्वेषोपहतस्य केवलं कर्मबन्ध एवास्य।
नान्यः स्वल्पोऽपि गुणोऽस्ति यः परत्रेह च श्रेयान् ॥५३॥

अर्थ : राग और द्वेष से उपहत [मनवाले] उसको केवल कर्मबन्ध ही होता है, इस लोक में या परलोक में, दूसरा अल्प भी गुण [उसमें] नहीं है। ॥५३॥

यस्मिन्निन्द्रियविषये शुभमशुभं वा निवेशयति भावम् ।
रक्तो वा द्विष्टो वा स बन्धहेतुर्भवति तस्य ॥५४॥

अर्थ : इन्द्रियों के जिन विषयों में रागयुक्त या द्वेषयुक्त जीव शुभ या अशुभ चित्तपरिणाम स्थापित करता है उसको वह चित्तपरिणाम कर्मबन्ध का हेतु बनता है ॥५४॥

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
रागद्वेषक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवम् ॥५५॥

अर्थ : चिकनाहट [तैल इत्यादि की] से लिप्त व्यक्ति के गात्र में जैसे धूल चिपक जाती है वैसे ही राग और द्वेष से चिकनी [स्निग्ध] आत्मा में कर्म चिपकते हैं ॥५५॥

एवं रागो द्वेषो मोहो मिथ्यात्वमविरतिश्चैव ।
एभिः प्रमादयोगानुगैः समादीयते कर्म ॥५६॥

अर्थ : ऐसे राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद-योगों [मन, वचन काया के] का अनुसरण करता हुआ [जीव] कर्म ग्रहण करता है ॥५६॥

कर्ममयः संसारः संसारनिमित्तकं पुनर्दुःखम् ।
तस्माद्रागद्वेषादयस्तु भवसन्ततेर्मूलम् ॥५७॥

अर्थ : कर्म का विकार संसार है। संसार के कारण ही दुःख है । अतः राग-द्वेषादि ही भवपरंपरा, संसारयात्रा के मूल हैं। ऐसा सिद्ध होता है ॥५७॥

एतद्दोष महासंचयजालं शक्यमप्रमत्तेन ।
प्रशमस्थितेन घनमप्युद्वेष्टयितुं निरवशेषम् ॥५८॥

अर्थ : इन दोषों के [राग-द्वेषादि और उसके कारण उत्पन्न होते कर्मों के] बड़े समूह, गहन ऐसी जाल का समूलोच्छेदन करना प्रमादरहित और प्रशम में स्थिर (आत्मा) के लिये शक्य है ॥५८॥

अस्य तु मूलनिबन्धं ज्ञात्वा तच्छेदनोद्यमपरस्य ।
दर्शनचारित्रतपःस्वाध्यायध्यानयुक्तस्य ॥५९॥

अर्थ : इसका (दोष समूह के जाल का) मूल कारण जानकर (१) उसके उच्छेदन हेतु उद्यत बने हुए को, (२) दर्शन, चारित्र-तप-स्वाध्याय और ध्यान से युक्त को ॥५९॥

प्राणवधानृतभाषणपरधनमैथुनममत्वविरतस्य ।
नवकोट्युद्‌गमशुद्धोञ्छमात्रयात्राऽधिकारस्य ॥६०॥

अर्थ : (३) हिंसा-असत्यवचन-परधनहरण-मैथुनसेवन और परिग्रह से विरक्त को (४) नवकोटि शुद्ध, उद्‌गम शुद्ध और उंछवृत्ति से यात्रा का (संयमयात्रा का) जिन्हें अधिकार है उनको ॥६०॥

जिनभाषितार्थसद्भावभाविनो विदितलोकतत्त्वस्य ।
अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणः कृतप्रतिज्ञस्य ॥६१॥

अर्थ : जिनकथित अर्थ के सद्भाव से भावित होने

वाले को (६) लोकपरमार्थ के ज्ञाता को (७) अठ्ठारह हजार शीलांग के धारक एवं उसका पालन करने की जिन्होंने प्रतिज्ञा ली है उनको ॥६१॥

परिणाममपूर्वमुपागतस्य शुभभावनाऽध्यवसितस्य ।
अन्योऽन्यमुत्तरोत्तरविशेषमभिपश्यतः समये ॥६२॥

अर्थ : (८) अपूर्व परिणाम (मन के) प्राप्त करने वालों को, (९) शुभ भावनाओं (अनित्यादि एवं पाँच महाव्रतों वगैरह की) के अध्यवसाय वालों को, (१०) सिद्धान्त में परस्पर एक दूसरे से विशेष (श्रेष्ठ) के भावज्ञान से देखने वालों को ॥६२॥

वैराग्यमार्गसम्प्रस्थितस्य संसारवासचकितस्य ।
स्वहितार्थाभिरतमतेः शुभेयमुत्पद्यते चिन्ता ॥६३॥

अर्थ : (११) वैराग्य मार्ग में रहे हुए को, (१२) संसारवास से त्रस्त बने हुए को (१३) स्वहितार्थ मुक्तिसुख में जिनकी बुद्धि अभिरत है उनको-यह शुभ चिन्ता पैदा होती है ॥६३॥

भवकोटीभिरसुलभं मानुष्यं प्राप्य कः प्रमादो मे ? ।
न च गतमायुर्भूयः प्रत्येत्यपि देवराजस्य ॥६४॥

अर्थ : करोड़ों (अनंत) जन्मों से (नरक, देव, तिर्यंचादिरूप) भी दुर्लभ मनुष्यभव पाकर यह मेरा कैसा

प्रमाद है ? बीता हुआ आयुष्य इन्द्र का भी वापस नहीं आता (तो फिर मनुष्य का वापस आने की तो बात ही कहाँ ?) ॥६४॥

आरोग्यायुर्बलसमुदयाश्चला वीर्यमनियतं धर्मे ।
तल्लब्ध्वा हितकार्ये मयोद्यमः सर्वथा कार्यः ॥६५॥

अर्थ : धर्म में आरोग्य, आयुष्य, बल, समुदाय (धन धान्यादि के) क्षणभंगुरहै । वीर्य (उत्साह) विनश्वर हैं, वो (आरोग्य, आयुष्य, बल, धनधान्य, वीर्य) पाकर हितकार्य में (ज्ञान, दर्शन, चारित्र में) मुझे सर्व प्रकार से (बिना थके) पुरुषार्थ करना चाहिए ॥६५॥

शास्त्रागमादृते न हितमस्ति न च शास्त्रमस्ति विनयमृते ।
तस्माच्छास्त्रागमलिप्सुना विनीतेन भवितव्यम् ॥६६॥

अर्थ : शास्त्रागम के अतिरिक्त [शास्त्र यानी आगम] अन्य कोई हित नहीं है और विनय के बिना शास्त्रलाभ नहीं है, अतः शास्त्रागम का लाभ चाहने वालों को विनीत बनना चाहिए ॥६६॥

कुलरूपवचनयौवनधनमित्रैश्वर्यसंपदपि पुंसाम् ।
विनयप्रशमविहीना न शोभते निर्जलेव नदी ॥६७॥

अर्थ : पुरुषों की विनय और प्रशम से रहित कुल [क्षत्रियादि] रूप [लक्षणयुक्त शरीरादि] वचन [प्रिय-

वादिता] यौवन, धन, मित्र और ऐश्वर्य [प्रभुता] की संपत्ति, बिना जल की नदी की भांति सुशोभित नहीं होती है ॥६७॥

न तथा सुमहार्ध्यैरपि वस्त्राभरणैरलंकृतो भाति ।
श्रुतशीलमूलनिकषो विनीतविनयो यथा भाति ॥६८॥

अर्थ : बहुमूल्यवान् वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत [मनुष्य] भी ऐसा सुशोभित नहीं होता जैसा कि श्रुत और शील के निकष [कसौटी का पत्थर] रूप विशिष्ट विनययुक्त [मनुष्य] शोभित बनता है ॥६८॥

गुर्वायत्ता यस्माच्छास्त्रारम्भा भवन्ति सर्वेऽपि ।
तस्माद् गुर्वाराधनपरेण हितकांक्षिणा भाव्यम् ॥६९॥

अर्थ : सारी शास्त्रप्रवृत्तियाँ गुरुजनों के अधीन होती हैं, अतः हितकांक्षी (मनुष्य को) गुरु की आराधना में उपयुक्त होना चाहिए ॥६९॥

धन्यस्योपरि निपतत्यहितसमाचरणघर्मनिर्वापी ।
गुरुवदनमलयनिसृतो वचनसरसचन्दनस्पर्शः ॥७०॥

अर्थ : अहितकारी क्रियानुष्ठान के ताप को दूर करने में समर्थ गुरु के वदनरूप मलयाचल से निकला वचनरूप आर्द्र चन्दन का स्पर्श धन्य (पुण्यशाली) पर गिरता है ॥७०॥

दुष्प्रतिकारौ मातापितरौ स्वामी गुरूश्च लोकेऽस्मिन् ।
तत्र गुरूरिहामुत्र च सदुष्करतरप्रतिकारः ॥७१॥

अर्थ : इस लोक में माता, पिता, स्वामी (राजा वगैरह) और गुरु दुष्प्रतिकार्य हैं, उसमें भी गुरु तो इस लोक में और परलोक में अत्यन्त दुर्लभ प्रतिकार्य हैं ॥७१॥

विनयफलं शुश्रूषा गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम् ।
ज्ञानस्य फलं विरतिर्विरतिफलं चाश्रवनिरोधः ॥७२॥

अर्थ : विनय का फल श्रवण, श्रवण (गुरु के समीप किया हुआ) का फल आगमज्ञान, आगमज्ञान का फल विरति (नियम), विरति का फल संवर (आश्रव निवृत्ति) ॥७२॥

संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम् ।
तस्मात् क्रियानिवृत्तिः क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥७३॥

अर्थ : संवर का फल तपःशक्ति, तप का फल निर्जरा, निर्जरा का फल क्रिया-निवृत्ति, क्रियानिवृत्ति से योग-निरोध ॥७३॥

योगनिरोधाद् भवसन्ततिक्षयः सन्ततिक्षयान्मोक्षः ।
तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः ॥७४॥

अर्थ : योगनिरोध होने से भवपरंपरा का क्षय होता है, परंपरा (जन्मादि की) के क्षय से मोक्षप्राप्ति होती है,

इसलिये सारे कल्याणों का (पारम्परिक) भाजन विनय है ॥७४॥

विनयव्यपेतमनसो गुरुविद्वत्साधुपरिभवनशीलाः ।
त्रुटिमात्र विषयसङ्गादजरामरवन्निरूद्विग्नाः ॥७५॥

अर्थ : विनय रहित मन वाले, गुरुजन, विद्वज्जन और साधु पुरुषों का अनादर करने वाले [जीव] अति अल्प मात्र विषयासक्ति से अजर-अमर की भांति उद्वेगरहित होते हैं ॥७५॥

केचित्साातर्द्धिरसातिगौरवात् सांप्रतेक्षिणः पुरुषाः ।
मोहात्समुद्रवायसवदामिषपरा विनश्यन्ति ॥७६॥

अर्थ : शाता, ऋद्धि और रस में अति आदर के कारण केवल वर्तमान काल को ही देखने वाले पुरुष [परमार्थ को नहीं समझने वाले] अज्ञान से [अथवा मोहनीय कर्म के उदय से] समुद्र के कौए की भांति मांसलोलुपी, [ऐसे वे] विनाश पाते हैं ॥७६॥

ते जात्यहेतुदृष्टान्तसिद्धमविरूद्धमजरमभयकरम् ।
सर्वज्ञवाग्रसायनमुपनीतं नाभिनन्दन्ति ॥७७॥

अर्थ : श्रेष्ठ हेतु एवं दृष्टान्त से सिद्ध [प्रतिष्ठित], अविरुद्धि [संवादी] अमर करने वाला और अभय करने वाला, ऐसा सर्वज्ञ वाणी का रसायन मिलने पर भी वे [उस

रसायन का उपयोग नहीं कर पाते हैं] ॥७७॥

यद्वत् कश्चित् क्षीरं मधुशर्करया सुसंस्कृतं हृद्यम् ।
पित्तार्दितेन्द्रियत्वाद्वितथमतिर्मन्यते कटुकम् ॥७८॥

अर्थ : मीठी शक्कर युक्त, संस्कारित [मसाले डालकर उबाला हुआ] और हृदय को प्रिय दूध की, जिसकी इन्द्रियाँ पित्त से व्याकुल हैं ऐसा विपरीत बुद्धिवाला कोई [मनुष्य] जैसे कड़ुआ मानता है [मधुर होने पर भी] ॥७८॥

तद्वन्निश्चयमधुरमनुकम्पया सद्भिरभिहितं पथ्यम् ।
तथ्यमवमन्यमाना रागद्वेषोदयोद्वृत्ताः ॥७९॥

अर्थ : वैसे सज्जनों द्वारा [गणधर वगैरह] अनुकंपा से कथित, परिणाम में सुन्दर, योग्य और सत्य का अनादर करने वाले, राग-द्वेष से स्वच्छंदाचारी ॥७९॥

जातिकुलरूपबललाभबुद्धिवाल्लभ्यकश्रुतमदान्धाः ।
क्लीबाः परत्र चेह च हितमप्यर्थं न पश्यन्ति ॥८०॥

अर्थ : जाति-कुल-रूप-बल-लाभ-बुद्धि-जनप्रियत्व और श्रुत के मद से अंध बने और निःसत्व, इस भव में और परभव में उपकारी ऐसे अर्थों को [सर्वज्ञवाणीरूप] देखते नहीं हैं ॥८०॥

ज्ञात्वा भवपरिवर्ते जातीनां कोटिशतसहस्त्रेषु ।
हीनोत्तममध्यत्वं को जातिमदं बुधः कुर्यात् ॥८१॥

अर्थ : भव के परिभ्रमण में चौरासी लाख जातियों में हीन, उत्तम और मध्यमपन जानकर कौन विद्वान् जाति का मद करेगा ॥८१॥

नैकान् जातिविशेषानिन्द्रियनिर्वृत्तिपूर्वकान् सत्वाः ।
कर्मवशाद् गच्छन्त्यत्र कस्य का शाश्वता जातिः ॥८२॥

अर्थ : इन्द्रियरचनापूर्वक की अनेक विविध जातियों में कर्मपरवशता से जीव जाते हैं [ऐसे] इस संसार में किस जीव की कौन सी जाति शाश्वत् है ? ॥८२॥

रूपबलश्रुतिमतिशीलविभवपरिवर्जितांस्तथा दृष्ट्वा ।
विपुलकुलोत्पन्नानपि ननु कुलमानः परित्याज्यः ॥८३॥

अर्थ : लोकप्रसिद्ध उत्तम कुल में पैदा होने वाले भी रूपरहित, बलरहित, ज्ञानरहित, बुद्धिरहित, सदाचाररहित और वैभवरहित होते हैं, ऐसा देखकर अवश्य कुल के मद का परिहार करना चाहिए ॥८३॥

यस्याशुद्धं शीलं प्रयोजनं तस्य किं कुलमदेन ? ।
स्वगुणाभ्यलंकृतस्य हि किं शीलवतः कुलमदेन ? ॥८४॥

अर्थ : जिनका शील (सदाचार) अशुद्ध है उन्हें कुल का मद क्यों करना चाहिए और जो अपने गुणों से विभूषित

है उस शीलवान को कुल का अभिमान कैसा ? ॥८४॥

कः शुक्रशोणितसमुद्भवस्य सततं चयापचयिकस्य ।
रोगजरापाश्रयिणो मदावकाशोऽस्ति रूपस्य ॥८५॥

अर्थ : वीर्य और खून से उत्पन्न, सतत् हानि और वृद्धि पाने वाले, रोग एवं वृद्धत्व के स्थानभूत शरीर के रूप के अभिमान को कहाँ स्थान है ? ॥८५॥

नित्यं-परिशीलनीये त्वग्मांसाच्छादिते कलुषपूर्णे ।
निश्चयविनाशधर्मिणि रूपे मदकारणं किं स्यात् ॥८६॥

अर्थ : सदैव जिसका संस्कार करना पड़े, चमड़ी और मांस से आच्छादित, अशुचि से भरे हुए और निश्चितरूप से विनाश पाने वाले रूप पर अभिमान करने का क्या कारण हो सकता है ? ॥८६॥

बलसमुदितोऽपि यस्मान्नरः क्षणेन विबलत्वमुपयाति ।
बलहीनोऽप्यथ बलवान् संस्कारवशात् पुनर्भवति ॥८७॥

अर्थ : बलवान मनुष्य भी पल भर में निर्बल बन जाता है, बलहीन भी संस्कारवश वापस बलवान बन जाता है ॥८७॥

तस्मादनियतभावं बलस्य सम्यग्विभाव्य बुद्धिबलात् ।
मृत्युबले चाबलतां मदं न कुर्याद्बलेनापि ॥८८॥

अर्थ : अतः बल के अनियतभाव और मृत्यु के बल

के आगे निर्बलता का बुद्धि-बल से सम्यक् पर्यालोचन करके बल होने पर भी मद नहीं करना चाहिए ॥८८॥

उदयोपशमनिमित्तौ लाभालाभावनित्यकौ मत्वा ।
नालाभे वैक्लव्यं न च लाभे विस्मयः कार्यः ॥८९॥

अर्थ : लाभान्तराय कर्म के उदयनिमित्तक अलाभ और लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम निमित्तक लाभ-इस तरह लाभ और अलाभ को अनित्य समझकर अलाभ में दीनता नहीं करना और लाभ में गर्व नहीं करना ॥८९॥

परशक्त्यभिप्रसादात्मकेन किंचिदुपयोगयोग्येन ।
विपुलेनापि यतिवृषा लाभेन मदं न गच्छन्ति ॥९०॥

अर्थ : दूसरे की [दाता की] शक्तिरूप और अभिप्रसादरूप कुछ उपभोगयोग्य (पदार्थों) का बहुत लाभ होने पर श्रेष्ठ साधुपुरुष अभिमान नहीं करते हैं ॥९०॥

ग्रहणोद्ग्राहणनवकृतिविचारणार्थावधारणाद्येषु ।
बुद्ध्यङ्गविधिविकल्पेष्वनन्तपर्यायवृद्धेषु ॥९१॥

अर्थ : ग्रहण [नये सूत्रार्थ को ग्रहण करने में सक्षम] उद्ग्राहण [दूसरों को सूत्रार्थ देने में समर्थ] नवकृति [अभिनव शास्त्र बनाने में समर्थ] विचारणा [सूक्ष्म पदार्थ जैसे की आत्मा, कर्म इत्यादि में युक्तिपूर्वक जिज्ञासा] अर्थावधारणा [आचार्यादि के मुखकमल से निसृत शब्दार्थ

को एक ही बार में ग्रहण करने में सक्षम] आदि [धारणा] होने पर भी, बुद्धि के अंगों के [सुश्रुषा, प्रतिप्रश्न, ग्रहण इत्यादि] जो विकल्प अनन्त पर्यायों से वृद्ध [क्षयोपशम-जनित विशिष्ट बुद्धि प्रकार] हैं, उनके होने पर भी ॥९१॥

पूर्वपुरुषसिंहानां विज्ञानातिशयसागरानन्त्यम् ।
श्रुत्वा सांप्रतपुरुषाः कथं स्वबुद्ध्या मदं यान्ति ! ॥९२॥

अर्थ : पूर्वकाल के पुरुषसिंहो के [गणधर-चौदह पूर्वधर वगैरह के] विज्ञान के प्रकर्षरूप सागर का अनंतपना जानकर, वर्तमानकालीन (पंचम आरे के) पुरुष कैसे अपनी बुद्धि का अभिमान कर सकते हैं ? ॥९२॥

द्रमकैरिव चाटुकर्मकमुपकारनिमित्तकं परजनस्य ।
कृत्वा यद्वाल्लभ्यकमवाप्यते को मदस्तेन ? ॥९३॥

अर्थ : भिखारियों की तरह, उपकारनिमित्तक दूसरे व्यक्ति का चाटुकर्म (प्रिय भाषण) करके लोकप्रियता मिलती है, उससे क्या मद करना ? ॥९३॥

गर्वं परप्रसादात्मकेन वाल्लभ्यकेन यः कुर्यात् ।
तद्वाल्लभ्यकविगमे शोकसमुदयः परामृशति ॥९४॥

अर्थ : दसरों की कृपारूप लोकप्रियता से जो अभिमान करता है, लोकप्रियता जाते ही उसे शोक आ घेरता है ॥९४॥

माषतुषोपाख्यानं श्रुतपर्यायप्ररूपणां चैव ।
श्रुत्वातिविस्मयकरं च विकरणं स्थूलभद्रमुनेः ॥९५॥

अर्थ : माषतुष मुनि का कथानक (सुनकर) तथा आगम के भेदों की प्ररूपणा सुनकर, अति विस्मयजनक स्थूलभद्र मुनि का विकरण (वैक्रिय सिंहरूप का निर्माण एवं श्रुतसम्प्रदायविच्छेद) सुनकर ॥९५॥

सम्पर्कोद्यमसुलभं चरणकरणसाधकं श्रुतज्ञानम् ।
लब्ध्वा सर्वमदहरं तेनैव मदः कथं कार्यः ? ॥९६॥

अर्थ : सम्पर्क (बहुश्रुत आचार्यादि के साथ) और उद्यम से सुलभ, चरणकरण का साधक श्रुतज्ञान जो कि जात्यादि सभी मदों का नाश करने वाला है, उसे पाकर उससे ही क्या मद करना ? ॥९६॥

एतेषु मदस्थानेषु निश्चयेन च गुणोऽस्ति कश्चिदपि ।
केवलमुन्मादः स्वहृदयस्य संसारवृद्धिश्च ॥९७॥

अर्थ : इन जाति आदि आठों मदस्थानों में परमार्थदृष्टि से तो सचमुच कोई गुण है ही नहीं, यदि कुछ है भी तो मात्र अपने हृदय का उन्माद और संसार की वृद्धि ! ॥९७॥

जात्यादिमदोन्मत्तः पिशाचवद्भवति दुःखितश्चेह ।
जात्यादिहीनतां परभवे च निःसंशयं लभते ॥९८॥

अर्थ : जाति वगैरह के मद से उन्मत्त [मनुष्य] इस

भव में पिशाच की भांति दुःखी होता है और परलोक में अवश्यमेव हीन जाति को प्राप्त करता है ॥९८॥

सर्वमदस्थानानां मूलोद्घातार्थिना सदा यतिना ।
आत्मगुणैरुत्कर्षः परपरिवादश्च सन्त्याज्यः ॥९९॥

अर्थ : सारे मदस्थानों का मूल जो [गर्व] है उसका विनाश चाहते हुए साधु को सदैव अपने गुणों से गर्वित नहीं होना चाहिए और दूसरों का अवर्णवाद छोड़ देना चाहिए ॥९९॥

परपरिभवपरिवादात्मोत्कर्षाच्च बध्यते कर्म ।
नीचैर्गोत्रं प्रतिभवमनेकभवकोटिदुर्मोचम् ॥१००॥

अर्थ : दूसरों का पराभव [तिरस्कार] करने से और परिवाद [निन्दा] करने से तथा अपने उत्कर्ष से 'नीचगोत्र कर्म' करोड़ों भवों में भी न छूटे ऐसा जनम-जनम तक बंधता रहता है ॥१००॥

कर्मोदयनिर्वृत्तं हीनोत्तममध्यमं मनुष्याणाम् ।
तद्विधमेव तिरश्चां योनिविशेषान्तरविभक्तम् ॥१०१॥

अर्थ : कर्म [गोत्र] के उदय से मनुष्यों का नीचपन, उच्चपन और मध्यमपन निष्पन्न है, उसी तरह तिर्यंचों को [हीनत्व इत्यादि] अलग-अलग योनि के भेद से अलग-अलग होता है ॥१०१॥

देशकुलदेहविज्ञानायुर्बलभोगभूतिवैषम्यम् ।
दृष्ट्वा कथमिह विदुषां भवसंसारे रतिर्भवति ? ॥१०२॥

अर्थ : देश, कुल, शरीर, विज्ञान, आयुष्य, बल, भोग और वैभव की विषमता देखकर विद्वानों को इस [नरकादिरूप] भवसंसार में किस तरह से प्रीति हो ? ॥१०२॥

अपरिगणितगुणदोषः स्वपरोभयबाधको भवति यस्मात् ।
पञ्चेन्द्रियबलविबलो रागद्वेषोदयनिबद्धः ॥१०३॥

अर्थ : गुण व दोष का विचार नहीं करने वाला, पाँच इन्द्रियों के बल से विबल और रागद्वेष के उदय से बद्ध (जीवात्मा) स्व और पर दोनों के कष्टदायी बनता है ॥१०३॥

तस्माद् रागद्वेषत्यागे पञ्चेन्द्रियप्रशमने च ।
शुभपरिणामावस्थितिहेतोर्यत्नेन घटितव्यम् ॥१०४॥

अर्थ : इसलिये, शुभ विचारों की स्थिरता के लिये, राग और द्वेष के त्याग में, और पाँच इन्द्रियों को शान्त करने के लिये प्रयत्न करना चाहिए ॥१०४॥

तत्कथमनिष्टविषयाभिकाङ्क्षिणा भोगिना वियोगो वै ।
सुव्याकुलहृदयेनापि निश्चयेनागमः कार्यः ॥१०५॥

अर्थ : अनिष्ट विषयों की आकांक्षा वाले (उससे) अत्यन्त व्याकुल हृदय वाले भोगासक्त जीवात्मा का

(विषयों से) किस तरह वियोग हो ? निश्चय से (ये विषय इस लोक और परलोक में नुकसान करने वाले हैं, ऐसा जानकर) आगम का (जिनप्रणीत शास्त्रों का) अभ्यास करना चाहिए ॥१०५॥

आदावत्यभ्युदया मध्ये शृङ्गारहास्यदीप्तरसाः ।
निकषे विषया बीभत्सकरुणलज्जाभयप्रायाः ॥१०६॥

अर्थ : [ये विषय] प्रारम्भ में उत्सव जैसे लगते हैं, मध्य में शृंगार और हास्य को उद्दीप्त करने वाले हैं और अन्त में बीभत्स, करुणास्पद, लज्जाजनक और भयोत्पादक होते हैं ॥१०६॥

यद्यपि निषेव्यमाणा मनसः परितुष्टिकारका विषयाः ।
किम्पाकफलादनवद् भवन्ति पश्चादतिदुरन्ताः ॥१०७॥

अर्थ : हालाँकि सेवन करते समय विषय मन को सुखकारी लगते हैं फिर भी किंपाक फल के सेवन की तरह बाद में अति दुःखदायी होते हैं ॥१०७॥

यद्वच्छाकाष्टादशमन्नं बहुभक्ष्यपेयवत् स्वादुः ।
विषसंयुक्तं भुक्तं विपाककाले विनाशयति ॥१०८॥

तद्वदुपचारसंभृतरम्यकरागरससेविता विषयाः ।
भवशतपरम्परास्वपि दुःखविपाकानुबन्धकराः ॥१०९॥

अर्थ : जिस तरह अट्ठारह प्रकार के शाक और काफी

खाने व पीने योग्य स्वादिष्ट वस्तुओं से युक्त स्वादिष्ट भोजन यदि जहरवाला हो तो वह खाने से अन्ततोगत्वा मारक ही बनता है, उसी तरह चापलूसी व विनय वगैरह से बढ़ी हुई सुन्दरता से और अत्यधिक राग से सेवित विषय सैकड़ों भवों की परम्परा में भी दुःखभोग की परम्परा करने वाले हैं ॥१०८-१०९॥

अपि पश्यतां समक्षं नियतमनियतं पदे पदे मरणम् ।
येषां विषयेषु रतिर्भवति न तान् मानुषान् गणयेत् ॥११०॥

अर्थ : कदम कदम पर नियत और अनियत मृत्यु को प्रत्यक्ष देखने पर भी जिन्हें विषयों में आसक्ति होती है उन्हें मानव नहीं मनना चाहिए ॥११०॥

विषयपरिणामनियमो मनोऽनुकूलविषयेष्वनुप्रेक्ष्यः ।
द्विगुणोऽपि च नित्यमनुग्रहोऽनवद्यश्च संचिन्त्यः ॥१११॥

अर्थ : मन के अनुकूल विषयों में, विषयों के परिणाम के नियम का बार-बार चिन्तन करना चाहिए (और) सर्वदा निर्दोष व बहुगुणयुक्त लाभ का विचार करना चाहिए ॥१११॥

इति गुणदोषविपर्यासदर्शनाद्विषयमूर्च्छितो ह्यात्मा ।
भवपरिवर्तनभीरूभिराचारमवेक्ष्य परिरक्ष्यः ॥११२॥

अर्थ : इस तरह गुण और दोष में विपरीत दर्शन करने से आत्मा विषयों में आसक्त बनी हुई है । संसारपरिभ्रमण से डरते हुए जीवों को 'आचारांग' का अनुशीलन करके उसकी (आत्मा की) रक्षा करनी चाहिए ॥११२॥

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपोवीर्यात्मको जिनैः प्रोक्तः ।
पञ्चविधोऽयं विधिवत् साध्वाचारः समनुगम्यः ॥११३॥

अर्थ : तीर्थंकरों ने सम्यक्त्वाचार, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार और वीर्याचाररूप पाँच प्रकार का साध्वाचार (आचारांग का अर्थ) कहा है । उसे विधिपूर्वक जानना चाहिए ॥११३॥

षड्जीवकाययतना लौकिकसन्तान-गौरव-त्यागः ।
शीतोष्णादिपरीषहविजयः सम्यक्त्वमविकम्प्यम् ॥११४॥

अर्थ : छह जीवकाय की रक्षा, कुटुम्बिजनों के ममत्व का त्याग, शीत, उष्ण वगैरह परीषहों का विजय, अविचल सम्यक्त्व ॥११४॥

संसारादुद्वेगः क्षपणोपायश्च कर्मणां निपुणः ।
वैयावृत्त्योद्योगस्तपोविधिर्योषितां त्यागः ॥११५॥

अर्थ : संसार-उद्वेग, कर्मों को खपाने का कुशल उपाय, वैयावृत्य में तत्परता, तप की विधि और स्त्री का त्याग ॥११५॥ आचारांग के ये नौ भेद हैं ।

विधिना भैक्ष्यग्रहणं स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिता शय्या ।
ईर्याभाषाऽम्बरभाजनैषणाऽवग्रहाः शुद्धाः ॥११६॥

अर्थ : [आचारांग सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध की प्रथम चूलिका के सात अध्ययन के नाम] विधिपूर्वक, भिक्षाग्रहण, स्त्री-पशु-नपुंसक से रहित उपाश्रय, इर्याशुद्धि, भाषाशुद्धि, वस्त्रशुद्धि, पात्रशुद्धि और अवग्रह शुद्धि ॥११६॥

स्थाननिषद्याव्युत्सर्गशब्दरूपक्रियाः परान्योऽन्याः ।
पञ्चमहाव्रतदार्ढ्यं विमुक्तता सर्वसङ्गेभ्यः ॥११७॥

अर्थ : आचारांग सूत्र के दूसरे श्रुतस्कंध की दूसरी चूलिका के सात अध्ययनों के नाम स्थानक्रिया, निषद्याक्रिया, व्युत्सर्गक्रिया शब्दक्रिया, रूपक्रिया, परक्रिया और अन्योन्यक्रिया । पाँच महाव्रतों में दृढ़ता [तीसरी चूलिका] सर्वसंग से मुक्ति [चौथी चूलिका] ॥११७॥

साध्वाचारः खल्वयमष्टादशपदसहस्त्रपरिपठितः ।
सम्यगनुपाल्यमानो रागादीन् मूलतो हन्ति ॥११८॥

अर्थ : अट्ठारह हजार पदों से कथित और यथोक्त विधि से पालन किया हुआ साध्वाचार सचमुच राग-द्वेष-मोह का नाश करता है ॥११८॥

आचाराध्ययनोक्तार्थभावना-चरणगुप्तहृदयस्य ।
न तदस्ति कालविवरं यत्र क्वचनाभिभवनं स्यात् ॥११९॥

अर्थ : आचारांग के अध्ययनों में जो अर्थ कहे गये हैं उनका अभ्यासपूर्वक आचरण करने से जिसका हृदय सुरक्षित है, वहाँ काल का ऐसा एक भी छिद्र नहीं है, जहाँ कभी भी पराभव हो ॥११९॥

पैशाचिकमाख्यानं श्रुत्वा गोपायनं च कुलवध्वाः ।
संयमयोगैरात्मा निरन्तरं व्यावृतः कार्यः ॥१२०॥

अर्थ : पिशाच की कथा और कुलवधू के रक्षण को सुनकर, संयमयोगों से निरन्तर आत्मा को व्यापृत रखना चाहिए ॥१२०॥

क्षणविपरिणामधर्मा मर्त्यानामृद्धिसमुदयाः सर्वे ।
सर्वे च शोकजनकाः संयोगा विप्रयोगान्ताः ॥१२१॥

अर्थ : मनुष्य के सभी ऋद्धि-समूह पलभर में बदल जाने के धर्म वाले हैं । सभी संयोग वियोग के अन्तवाले हैं और शोकजनक हैं ॥१२१॥

भोगसुखैः किमनित्यैर्भयबहुलैः कांक्षितैः परायत्तैः ? ।
नित्यमभयमात्मस्थं प्रशमसुखं तत्र यतितव्यम् ॥१२२॥

अर्थ : अनित्य, भय से परिपूर्ण और पराधीन भोग-सुखों से क्या ? नित्य, भयरहित और स्वाधीन प्रशमसुख में प्रयत्न करना चाहिए ॥१२२॥

यावत् स्वविषयलिप्सोरक्षसमूहस्य चेष्ट्यते तुष्टौ ।
तावत् तस्यैव जये वरतरमशठं कृतो यत्नः ॥१२३॥

अर्थ : अपने विषयों की इच्छुक इन्द्रियों के समूह की सन्तुष्टि के लिए जितना प्रयत्न किया जाता है...उतना प्रयत्न निष्कपटतया उसे [इन्द्रियों के समूह को] जीतने में किया जाय, वह श्रेष्ठ है ॥१२३॥

यत् सर्वविषयकांक्षोद्भवं सुखं प्राप्यते सरागेण ।
तदनन्तकोटिगुणितं मुधैव लभते विगतरागः ॥१२४॥

अर्थ : सर्व विषयों की आकांक्षा में से पैदा हुआ जो सुख रागी जीवात्मा को मिलता है, उससे अनन्त कोटिगुण सुख बिना मूल्य का रागरहित जीवात्मा को मिलता है ॥१२४॥

इष्टवियोगाप्रियसंप्रयोगकांक्षासमुद्भवं दुःखम् ।
प्राप्नोति यत्सरागो न संस्पृशति तद्विगतरागः ॥१२५॥

अर्थ : इष्ट वियोग में और अप्रिय संयोग में, इष्ट के संयोग की इच्छा में से और अप्रिय के वियोग की इच्छा में से पैदा होने वाला दुःख जिसे सरागी पाता है, वीतराग उस दुःख का स्पर्श भी नहीं करते ॥१२५॥

प्रशमितवेदकषायस्य हास्यरत्यरतिशोकनिभृतस्य ।
भयकुत्सानिरभिभवस्य यत्सुखं तत्कुतोऽन्येषाम् ॥१२६॥

अर्थ : जिसने वेद और कषायों को शान्त कर दिया है,

जो हास्य, रति, अरति और शोक में स्वस्थ रहता है, जो भय और निन्दा से पराजित नहीं होता है, उसे जो सुख होता है वैसा सुख दूसरों को कैसे हो सकता है ? ॥१२६॥

सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी ध्यानतपोबलयुतोऽप्यनुपशान्तः ।
तं न लभते गुणं यं प्रशमगुणमुपाश्रितो लभते ॥१२७॥

अर्थ : सम्यग् दृष्टि, ज्ञानी, ध्यानी और तपस्वी (साधक) भी यदि प्रशान्त न हो तो वह वो गुण प्राप्त नहीं करता है, जो गुण प्रशमगुणयुक्त (साधक) पा लेता है ॥१२७॥

नैवास्ति राजराजस्य तत्सुखं नैव देवराजस्य ।
यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य ॥१२८॥

अर्थ : लौकिक प्रवृत्तियों से मुक्त साधु को जो इसी जन्म में मिलता है वो न तो चक्रवर्ती को मिलता है और नही देवेन्द्र को उपलब्ध होता है ॥१२८॥

संत्यज्य लोकचिन्तामात्मपरिज्ञानचिन्तनेऽभिरतः ।
जितरोषलोभमदनः सुखमास्ते निर्जरः साधुः ॥१२९॥

अर्थ : लोक की [स्वजन-परिजन की] चिन्ता छोड़कर आत्मज्ञान के चिन्तन में अभिरत रहने वाला, राग-द्वेष और काम को जीतने वाला और इस कारण नीरोगी बना हुआ साधु स्वस्थ रहता है [उपद्रवरहित होकर जीता है] ॥१२९॥

या चेह लोकवार्त्ता शरीरवार्ता तपस्विनां या च ।
सद्धर्मचरणवार्तानिमित्तकं तद्द्वयमपीष्ट्यम् ॥१३०॥

अर्थ : कोई भी इहलोक की वार्ता या शरीर की बातें साधुओं के सद्धर्म और चारित्र के निर्वाह में हेतुभूत हों, वे दोनों [लोकवार्ता-शरीरवार्ता] अभिमत हैं [यानि की जिनशासन को मान्य है] ॥१३०॥

लोकः खल्वाधारः सर्वेषां ब्रह्मचारिणां यस्मात् ।
तस्माल्लोकविरुद्धं धर्मविरुद्धं च संत्याज्यम् ॥१३१॥

अर्थ : सभी संयमी जनों का आधार लोक (जनपद) ही है, इसलिये लोकविरुद्ध और धर्मविरुद्ध का त्याग करना चाहिये ॥१३१॥

देहो नासाधनको लोकाधीनानि साधनान्यस्य ।
सद्धर्मानुपरोधात्तस्माल्लोकोऽभिगमनीयः ॥१३२॥

अर्थ : साधन के बिना शरीर नहीं है, उसके साधन लोकाधीन हैं । इसलिये सद्धर्म को अविरुद्ध लोक का अनुसरण करना चाहिए ॥१३२॥

दोषेणानुपकारी भवति परो येन येन विद्वेष्टिः ।
स्वयमपि तद्दोषपदं सदा प्रयत्नेन परिहार्यम् ॥१३३॥

अर्थ : जिन जिन दोषों से दूसरा आदमी अनुपकारी होता है, द्वेष करता है, उन उन दोषस्थान का स्वयं को भी

जाग्रत रहकर त्याग करना चाहिए ॥१३३॥

पिण्डैषणानिरूक्तः कल्प्याकल्प्यस्य यो विधिः सूत्रे ।
ग्रहणोपभोगनियतस्य तेन नैवामयभयं स्यात् ॥१३४॥

अर्थ : आगम में 'पिंडैषणा' नामक अध्ययन में कल्प्य-अकल्प्य की जो विधि बतायी गई है उस विधि से परिमित (आहार) ग्रहण करने वालों और परिमित उपभोग करने वालों को रोग का भय हो ही नहीं सकता ॥१३४॥

व्रणलेपाक्षोपाङ्गवदसङ्गयोगभरमात्रयात्रार्थम् ।
पन्नग इवाभ्यवहरेदाहारं पुत्रपलवच्च ॥१३५॥

अर्थ : असंग पुरुष अपने संयम योगों के निर्वाह हेतु फोड़े पर लगाये जाने वाले मल्हम की तरह और गाड़ी की पहिये की धुरी पर लगाये जाने वाले तेल की तरह, जिस प्रकार साँप आहार करता है, और जिस प्रकार अपने ही संतान के मांस का आहार पिता करता है, उसी प्रकार वो आहार करे ॥१३५॥

गुणवदमूर्च्छितमनसा तद्विपरीतमपि चाप्रदुष्टेन ।
दारूपमधृतिना भवति कल्प्यमास्वाद्यमास्वाद्यम् ॥१३६॥

अर्थ : लकड़े के जैसे धैर्यवाले साधु, ग्रहण करने योग्य स्वादिष्ट भोजन रागरहित मन से और स्वादरहित भोजन द्वेषरहित मन से यदि करते हैं तो वह भोजन करने

योग्य भोजन बनता है ॥१३६॥

कालं क्षेत्रं मात्रां स्वात्म्यं द्रव्यगुरुलाघवं स्वबलम् ।
ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यं भुङ्क्ते किं भेषजैस्तस्य ॥१३७॥

अर्थ : काल [समय] क्षेत्र, मात्रा, स्वभाव, द्रव्य का भारीपन-हल्कापन और स्वयं की ताकत को जानकर जो भोजन करता है, उसे औषधों से क्या ? [उसे दवाईयों से क्या लेना-देना ?] ॥१३७॥

पिण्डः शय्या वस्त्रैषणादि पात्रैषणादि यच्चान्यत् ।
कल्प्याकल्प्यं सद्धर्मदेहरक्षानिमित्तोक्तम् ॥१३८॥

अर्थ : आहार, उपाश्रय, वस्त्र-एषणादि, पात्र-एषणादि और दूसरा जो कुछ भी कल्प्य या अकल्प्य बताया गया है वह सद्धर्म के हेतुभूत शरीर की रक्षा के निमित्त कहा गया है ॥१३८॥

कल्प्याकल्प्यविधिज्ञः संविग्नसहायको विनीतात्मा ।
दोषमलिनेऽपि लोके प्रविहरति मुनिर्निरुपलेपः ॥१३९॥

अर्थ : कल्पनीय और अकल्पनीय की विधि को जानने वाला, संविग्न [संसारभीरु और ज्ञान-क्रियायुक्त] पुरुषों का सहायक और विनीत, मुनि, दोषों से मलिन लोक में [रहने पर भी] लेपरहित [राग-द्वेषरहित] विचरण करता है ॥१३९॥

यद्वत्पङ्काधारमपि पङ्कजं नोपलिप्यते तेन ।
धर्मोपकरणधृतवपुरपि साधुरलेपकस्तद्वत् ॥१४०॥

अर्थ : जिस तरह कीचड़ में रहा हुआ कमल कीचड़ से लिप्त नहीं होता, उसी तरह धर्म–उपकरण को शरीर पर धारण करने वाले साधु भी कमल की भांति निर्लेप रहते हैं ॥१४०॥

यद्वत्तुरगः सत्स्वप्याभरणविभूषणेष्वनभिसक्तः ।
तद्वदुपग्रहवानपि न सङ्गमुपयाति निर्ग्रन्थः ॥१४१॥

अर्थ : जिस तरह घोड़ा आभूषणों से विभूषित होने पर भी [आभूषणों में] आसक्त नहीं होता, उसी तरह उपग्रह [धर्मोपकरण] युक्त होने पर भी निर्ग्रन्थ उसमें मोह नहीं करता ॥१४१॥

ग्रन्थः कर्माष्टविधं मिथ्यात्वाविरतिदुष्टयोगाश्च ।
तज्जयहेतोरशठं संयतते यः स निर्ग्रन्थः ॥१४२॥

अर्थ : आठ प्रकार के कर्म, मिथ्यात्व, अविरति और अशुभ योग, यह ग्रन्थ है। उसे जीतने के लिए जो अशठतया [मायारहित] सम्यग् उद्यम करता है वह निर्ग्रन्थ है ॥१४२॥

यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रहं निग्रहं च दोषाणाम् ।
कल्पयति निश्चये यत् तत् कल्प्यमकल्प्यमवशेषम् ॥१४३॥

अर्थ : अतः जो वस्तु ज्ञान, शील और तप को बढाये

एवं दोषों को दूर करे वह निश्चय से [और व्यवहार से] कल्पनीय है, शेष सभी अक्लपनीय हैं ॥१४३॥

यत्पुनरुपघातकरं सम्यक्त्वज्ञानशीलयोगानाम् ।
तत्कल्प्यमप्यकल्प्यं प्रवचनकुत्साकरं यच्च ॥१४४॥

अर्थ : जो वस्तु सम्यग् दर्शन-ज्ञान-शील और संयम योगों के लिए उपघातकारक होती है और जिनशासन की निन्दा करवाने वाली होती है वह वस्तु कल्प्य होने पर भी अकल्प्य है ॥१४४॥

किंचिच्छुद्धं कल्प्यमकल्प्यं स्यात्स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम् ।
पिण्डः शय्या वस्त्र पात्रं वा भेषजाद्यं वा ॥१४५॥

अर्थ : भोजन, मकान, वस्त्र, पात्र या औषध वगैरह कोई भी वस्तु शुद्ध कल्प्य होने पर भी अकल्प्य हो जाती है और अकल्प्य होने पर भी कल्प्य हो जाती है ॥१४५॥

देशं कालं पुरुषमवस्थामुपघातशुद्धिपरिणामान् ।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकान्तात् कल्प्यते कल्प्यम् ॥१४६॥

अर्थ : देश, काल पुरुष, अवस्था, उपघात और शुद्ध परिणाम की यथायोग्य आलोचना करके कल्प्य कल्प्य बनता है, एकांतिक तौर से कल्प्य कल्प्य नहीं है ॥१४६॥

तच्चिन्त्यं तद्भाष्यं तत्कार्यं भवति सर्वथा यतिना ।
नात्मपरोभयबाधकमिह यत्परतश्च सर्वाद्धम् ॥१४७॥

अर्थ : मुनि को वही सोचना चाहिए-वही बोलना चाहिए और वही करना चाहिए, जो इस लोक में और परलोक में, सर्वदा स्वयं को एवं अन्य को, उभय को दुःखद न हो ॥१४७॥

सर्वार्थेष्विन्द्रियसंगतेषु वैराग्यमार्गविघ्नेषु ।
परिसंख्यानं कार्यं कार्यं परमिच्छुना नियतम् ॥१४८॥

अर्थ : उत्कृष्ट और शाश्वत् कार्य मोक्ष के अभिलाषी मुनि को वैराग्य के रास्ते में विघ्न करनेवाले एकेन्द्रिय विषयों में सर्वदा प्रत्याख्यान करना चाहिए ॥१४८॥

भावयितव्यमनित्यत्वमशरणत्वं तथैकताऽन्यत्वे ।
अशुचित्वं संसारः कर्माश्रवसंवरविधिश्च ॥१४९॥

निर्जरणलोकविस्तर-धर्मस्वाख्याततत्त्वचिन्ताश्च ।
बोधेः सुदुर्लभत्वं च भावना द्वादश विशुद्धाः । ।१५०॥

अर्थ : अनित्यता, अशरणता, एकत्व, अन्यत्व, अशुचिता, संसार, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोकविस्तार, स्वाख्यातधर्म का चिन्तन और बोधिदुर्लभता, ये बारह विशुद्ध भावनाएँ हैं, उसकी सतत् अनुप्रेक्षा करनी चाहिए ॥१४९-१५०॥

इष्टजनसंप्रयोगर्द्धि-विषयसुख-संपदस्तथारोग्यम् ।
देहश्च यौवनं जीवितञ्च सर्वाण्यनित्यानि ॥१५१॥

अर्थ : इष्टजनों का संयोग, ऋद्धि, विषयसुख, सम्पत्ति, आरोग्य, शरीर, यौवन और जीवन ये सभी अनित्य हैं ॥१५१॥

जन्मजरामरणभयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते ।
जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरणं क्वचिल्लोके ॥१५२॥

अर्थ : जन्म-जरा और मृत्यु के भय से अभिभूत एवं रोग व वेदना से आक्रान्त लोक में (जीवसृष्टि में) तीर्थंकर के वचन के अलावा और कोई शरण नहीं है ॥१५२॥

एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभा भवावर्ते ।
तस्मादाकालिकहितमेकेनैवात्मनः कार्यम् ॥१५३॥

अर्थ : संसारसागर के आवर्त में जीव अकेला (असहाय) जन्म लेता है, अकेला मरता है। अकेला शुभ-अशुभ गति में जाता है। अतः जीवात्मा को अकेले ही अपना स्थायी हित करना चाहिए ॥१५३॥

अन्योऽहं स्वजनात् परिजनाच्च विभवाच्छरीरकाच्चेति ।
यस्य नियता मतिरियं न बाधते तं हि शोककलिः ॥१५४॥

अर्थ : 'मैं स्वजनों से, परिजनों से, संपत्ति से और शरीर से भी भिन्न हूँ...' जिसकी इस तरह की मति सुनिश्चित है उसे शोकरूप कलि दुःखी नहीं करता ॥१५४॥

अशुचिकरणसामर्थ्यादाद्युत्तरकारणाशुचित्वाच्च ।
देहस्याशुचिभावः स्थाने स्थाने भवति चिन्त्यः ॥१५५॥

अर्थ : शरीर की शक्ति [पवित्र ऐसे द्रव्य को भी] अपवित्र करनेवाली होने से और उसके आदिकारण तथा उत्तरकारण अपवित्र होने से, प्रत्येक स्थान में (शरीर के) देह को अशुचि भाव का चिन्तन करना चाहिए ॥१५५॥

माता भूत्वा दुहिता भगिनी भार्या च भवति संसारे ।
व्रजति सुतः पितृतां भ्रातृतां पुनः शत्रुतां चैव ॥१५६॥

अर्थ : संसार में (जीव) माता बनकर (मरकर) बेटी-बहन और पत्नी बनता है...और पुत्र (मरकर) पिता-भ्राता और शत्रु बनता है ॥१५६॥

मिथ्यादृष्टिरविरतः प्रमादवान् यः कषायदण्डरुचिः ।
तस्य तथास्त्रवकर्माणि यतेत तन्निग्रहे तस्मात् ॥१५७॥

अर्थ : जो (जीवात्मा) मिथ्यादृष्टि अविरत, प्रमादी और कषाय व दण्ड में रूचि रखता है उसे कर्मों का आश्रव होता है, अतः उसका निरसन करने के लिए (आश्रवों को रोकने के लिए) प्रयत्न करना चाहिए ॥१५७॥

या पुण्यपापयोरग्रहणे वाक्कायमानसी वृत्तिः ।
सुसमाहितो हितः संवरो वरददेशितश्चिन्त्यः ॥१५८॥

अर्थ : मन-वाणी-वर्तन की जिस प्रवृत्ति से पुण्य और

पाप का ग्रहण न हो ऐसी, आत्मा में भली-भांति धारण की हुई प्रवृत्ति को, जिनोपदिष्ट हितकारी संवर कहते हैं, उसका चिन्तन करना चाहिए ॥१५८॥

यद्वद्विशोषणादुपचितोऽपि यत्नेन जीर्यते दोषः ।
तद्वत्कर्मोपचितं निर्जरयति संवृतस्तपसा ॥१५९॥

अर्थ : जिस तरह बढ़ा हुआ भी विकार प्रयत्न के द्वारा, उपवास करने से नष्ट हो जाता है उसी तरह संवृत जीवात्मा तपश्चर्या से इकट्ठे हुए कर्मों की निर्जरा करता है ॥१५९॥

लोकस्याधस्तिर्यग् विचिन्तयेदुर्ध्वमपि च बाहल्यम् ।
सर्वत्र जन्म-मरणे रुपिद्रव्योपयोगांश्च ॥१६०॥

अर्थ : अधोलोक, मध्यलोक और उर्ध्वलोक के विस्तार का विचार करना चाहिए और (यह भी विचार करना चाहिए कि) लोक में सर्वत्र में जन्मा हूँ...और मरा हूँ...सभी रूपी द्रव्यों का मैंने उपभोग किया है ॥१६०॥

धर्मोऽयं स्वाख्यातो जगद्धितार्थं जिनैर्जितारिगणैः ।
येऽत्र रतास्ते संसारसागरं लीलयोत्तीर्णाः ॥१६१॥

अर्थ : शत्रुगण [राग-द्वेष-मोह वगैरह] के विजेता जिन्होंने जगत के हित के लिए इस धर्म का निर्दोष कथन किया है । जो [जीवात्मा] इस धर्म में अनुरक्त हुए, वे संसार सागर को सहजता से तैर गये ॥१६१॥

मानुष्यकर्मभूम्यार्यदेशकुलकल्यतायुरुपलब्धौ ।
श्रद्धाकथकश्रवणेषु सत्स्वपि सुदुर्लभा बोधिः ॥१६२॥

अर्थ : मनुष्य जन्म, कर्मभूमि, आर्यदेश, आर्यकुल, निरोगिता और आयुष्य प्राप्त होने पर भी, श्रद्धा, सद्गुरु और शास्त्रश्रवण मिल जाने पर भी, बोधि [सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान] प्राप्त होना काफी कठिन है ॥१६२॥

तां दुर्लभां भवशतैर्लब्ध्वाऽप्यतिदुर्लभा पुनर्विरतिः ।
मोहाद्रागात्कापथविलोकनाद् गौरववशाच्च ॥१६३॥

अर्थ : सैकड़ों जन्मों में वो दुर्लभ बोधि प्राप्त कर लेने पर भी मोह से, राग से, उन्मार्गदर्शन से और गारववशता से विरति [देशविरति-सर्वविरति] अत्यन्त दुर्लभ है ॥१६३॥

तत्प्राप्य विरतिरत्नं वैरागमार्गविजयो दुरधिगम्यः ।
इन्द्रियकषायगौरवपरिषहसपत्नविधुरेण ॥१६४॥

अर्थ : वो विरतिरत्न पा लेने पर भी, इन्द्रिय-कषाय-गारव और परिषह शत्रु की व्याकुलता के कारण, वैराग्यमार्ग का विजय काफी दुर्जय होता है ॥१६४॥

तस्मात् परिषहेन्द्रियगौरवगणनायकान् कषायरिपून् ।
क्षान्तिबलमार्दवार्जवसन्तोषैः साधयेद्धीरः ॥१६५॥

अर्थ : अतः धीर पुरुष को परिषह-इन्द्रिय और गारवसमूह के नायक कषायशत्रुओं को क्षमा-मार्दव-आर्जव

और संतोष रूपी सैन्य से जीतना चाहिए ॥१६५॥

संचिन्त्य कषायाणामुदयनिमित्तमुपशान्तिहेतुं च ।
त्रिकरणशुद्धमपि तयोः परिहारासेवने कार्ये ॥१६६॥

अर्थ : कषायों के उदय के निमित्तों को और कषायों के उपशम के निमित्तों का भलीभाँति विचार करके, मन-वचन-काया की शुद्धि से, कषायउदय के निमित्तों का त्याग और उपशम के निमित्तों का सेवन करना चाहिए ॥१६६॥

सेव्याः क्षान्तिर्मार्दवमार्जवशौचे च संयमत्यागौ ।
सत्यतपोब्रह्माकिञ्चन्यानीत्येष धर्मविधिः ॥१६७॥

अर्थ : क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, संयम, त्याग, सत्य, तप, ब्रह्मचर्य और अकिंचनता, इस धर्मविधि (धर्म के प्रकार) का सेवन करना चाहिए ॥१६७॥

धर्मस्य दया मूलं न चाक्षमावान् दयां समादत्ते ।
तस्माद्यः क्षान्तिपरः स साधयत्त्युत्तमं धर्मम् ॥१६८॥

अर्थ : धर्म का मूल दया है, जो क्षमाशील नहीं होता है, वो दया को धारण नहीं कर सकता है । अतः जो क्षमाधर्म में तत्पर है वो उत्तम धर्म की साधना कर लेता है ॥१६८॥

विनयायत्ताश्च गुणाः सर्वे विनयश्च मार्दवायत्तः ।
यस्मिन् मार्दवमखिलं स सर्वगुणभाक्त्वमाप्नोति ॥१६९॥

अर्थ : सभी गुण विनय के अधीन हैं और विनय मार्दव के वश में है। (अतः) जिसमें पूर्ण मार्दवधर्म होता है वो सभी गुणों को प्राप्त कर लेता है ॥१६९॥

नानार्जवो विशुद्ध्यति न धर्ममाराधयत्यशुद्धात्मा ।
धर्मादृते न मोक्षो मोक्षात्परमं सुखं नान्यत् ॥१७०॥

अर्थ : आर्जव (सरलता) के बगैर शुद्धि नहीं होती, अशुद्ध आत्मा धर्माराधना नहीं कर सकती, धर्म के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती और मोक्ष से बढ़कर दूसरा कोई सुख नहीं है ॥१७०॥

यद् द्रव्योपकरण-भक्तपान-देहाधिकारकं शौचम् ।
तद्भवति भावशौचानुपरोधाद्यत्नतः कार्यम् ॥१७१॥

अर्थ : द्रव्य, उपकरण, खान-पान और शरीर को लेकर जो शुद्धि की जाती है वो प्रयत्नपूर्वक इस तरह करनी चाहिए कि जिससे भाव शौच को क्षति न पहुँचे ॥१७१॥

पञ्चाश्रवाद्विरमणं पञ्चेन्द्रियनिग्रहश्च कषायजयः ।
दण्डत्रयविरतिश्चेति संयमः सप्तदशभेदः ॥१७२॥

अर्थ : पाँच आश्रवों से विरति, पाँच इन्द्रियों का निग्रह, चार कषायों पर विजय और तीन दण्ड (मन दण्ड, वचन दण्ड, कायदण्ड) से विराम, ये सत्रह प्रकार के संयम हैं ॥१७२॥

बान्धव-धनेन्द्रिय-सुखत्यागात् त्यक्तभयविग्रहः साधुः ।
त्यक्तात्मा निर्ग्रन्थस्त्यक्ताहंकारममकारः ॥१७३ ॥

अर्थ : कुटुम्ब, धन और इन्द्रिय से संबंधित सुख का त्याग करने से, जिसने भय और कलह का त्याग किया है एवं अहंकार व ममकार को छोड़ दिया है, वे त्यागमूर्ति साधु निर्ग्रन्थ हैं ॥१७३॥

अविसंवादनयोगः कायमनोवागजिह्मता चैव ।
सत्यं चतुर्विधं तच्च जिनवरमतेऽस्ति नान्यत्र ॥१७४॥

अर्थ : अविसंवाद, काया की अकुटिलता, मन की अकुटिलता और वाणी की अकुटिलता-सत्य के ये चार प्रकार हैं । और ऐसा सत्यधर्म जिनमत में ही है, अन्यत्र कहीं नहीं है ॥१७४॥

अनशनमूनोदरता वृत्तेः संक्षेपणं रसत्यागः ।
कायक्लेशः संलीनतेति बाह्यं तपः प्रोक्तम् ॥१७५॥

अर्थ : अनशन, उनोदरता, वृत्तिसंक्षेप, रसत्याग, कायक्लेश और संलीनता इस प्रकार के बाह्य तप कहे गये हैं ॥१७५॥

प्रायश्चित्तध्याने वैयावृत्त्यविनयावथोत्सर्गः ।
स्वाध्याय इति तपः षट्प्रकारमभ्यन्तरं भवति ॥१७६॥

अर्थ : प्रायश्चित, ध्यान, वैयावृत्य, विनय, कायोत्सर्ग

और स्वाध्याय ये छह तरह के आभ्यन्तर तप हैं ॥१७६॥

दिव्यात्कामरतिसुखात् त्रिविधं त्रिविधेन विरतिरिति नवकम् ।
औदारिकादपि तथा तद् ब्रह्माष्टादशविकल्पम् ॥१७७॥

अर्थ : देवसम्बन्धी एवं औदारिक-शरीर सम्बन्धी कामरति के सुख से, नौ नौ प्रकार से विरत होने के कारण ब्रह्मचर्य के अट्ठारह प्रकार होते हैं ॥१७७॥

अध्यात्मविदो मूर्च्छां परिग्रहं वर्णयन्ति निश्चयतः ।
तस्माद् वैराग्येप्सोराकिञ्चन्यं परो धर्मः ॥१७८॥

अर्थ : अध्यात्मवेत्ता निश्चयनय से मूर्च्छा को परिग्रह कहते हैं, उससे मुमुक्षु के लिए अकिंचनता श्रेष्ठ धर्म है ॥१७८॥

दशविधधर्मानुष्ठायिनः सदा रागद्वेषमोहानाम् ।
दृढरूढघनानामपि भवत्युपशमोऽल्पकालेन ॥१७९॥

अर्थ : जो इस दस प्रकार के यतिधर्म का सदा पालन करते हैं, उनका दृढ राग, रूढ द्वेष और घनीभूत मोह अल्प समय में उपशान्त होता है ॥१७९॥ अथवा क्षय होता है ।

ममकाराहंकारत्यागादतिदुर्जयोद्धतप्रबलान् ।
हन्ति परिषहगौरवकषायदण्डेन्द्रियव्यूहान् ॥१८०॥

अर्थ : अहंकार और ममकार का त्याग करने से आत्मा, अत्यन्त दुर्जय और बलवान परिषह, गारव, कषाय,

दण्ड और इन्द्रियों के व्यूहों का नाश कर डालती है ।।१८०।।

प्रवचनभक्तिः श्रुतसंपदुद्यमो व्यतिकरश्च संविग्नैः ।
वैराग्यमार्गसद्भावभावधीस्थैर्यजनकानि ।।१८१।।

अर्थ : जिनप्रवचन में भक्ति, शास्त्र-संपत्ति में उद्यम (प्रयत्न) और संसारभीरु जीवों का संपर्क-(ये तीन बातें) वैराग्यमार्ग में बुद्धि की स्थिरता पैदा करते हैं, जीवादि-तत्त्वों की श्रद्धा में और (क्षयोपशमजन्य) भावों में बुद्धि की स्थिरता उत्पन्न करते हैं ।।१८१।।

आक्षेपणीं विक्षेपणीं विमार्गबाधनसमर्थविन्यासाम् ।
श्रोतृजनश्रोत्रमनःप्रसादजननीं यथा जननीं ।।१८२।।

संवेदनीं च निर्वेदनीं च धर्म्यां कथां सदा कुर्यात् ।
स्त्रीभक्तचौरजनपदकथाश्च दूरात् परित्याज्याः ।।१८३।।

अर्थ : उन्मार्ग का उच्छेद करने में समर्थ रचनायुक्त और श्रोतावर्ग के कान और मन को माँ की तरह आनन्द देनेवाली आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी धर्मकथा सदा करनी चाहिए । एवं स्त्री-कथा, भोजन कथा, चोर कथा और राज्य कथा (देश कथा) दूर से ही (मन से भी) छोड़ देनी चाहिए ।।१८२-१८३।।

यावत्परगुणदोषपरिकीर्तने व्यापृतं मनो भवति ।
तावद्वरं विशुद्धे ध्याने व्यग्रं मनः कर्तुम् ॥१८४॥

अर्थ : जब तक मन दूसरों के गुण-दोष गाने में प्रवृत्त रहता हो तब तक उस मन को विशुद्ध ध्यान में व्यग्र करना बेहतर है ॥१८४॥

शास्त्राध्ययने चाध्यापने च संचिन्तने तथात्मनि च ।
धर्मकथने च सततं यत्नः सर्वात्मना कार्यः ॥१८५॥

अर्थ : शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन-चिन्तन और आत्मचिन्तन में एवं धर्मकथा करने में मन-वचन-काया से सतत प्रयत्न करना चाहिए ॥१८५॥

शास्विति वाग्विधिविद्भिर्धातुः पापठ्यतेऽनुशिष्ट्यर्थः ।
त्रैङिति पालनार्थे विनिश्चितः सर्वशब्दविदाम् ॥१८६॥

यस्माद् रागद्वेषोद्धतचित्तान् समनुशास्ति सद्धर्मे ।
संत्रायते च दुःखाच्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्भिः ॥१८७॥

अर्थ : चौदहपूर्वधर 'शास्' धातु का अर्थ अनुशासन करते हैं और 'त्रैङ्' धातु को सभी शब्दवेत्ताओं ने 'पालन' अर्थ में सुनिश्चित किया हुआ है। इसलिये, रागद्वेष से जिनके चित्त व्याप्त हैं, उन्हें सद्धर्म में अनुशासित करता है और दुःख से बचाता है, अतः सज्जन लोग उसे 'शास्त्र' कहते हैं ॥१८६-१८७॥

शासनसामर्थ्येन तु संत्राणबलेन चानवद्येन ।
युक्तं यत्तच्छास्त्रं तच्चैतत् सर्वविद्वचनम् ॥१८८॥

अर्थ : अनुशासन करने के सामर्थ्य से एवं निर्दोष रक्षणबल से मुक्त होने के कारण उसे शास्त्र कहा जाता है और वह शास्त्र सर्वज्ञवचन ही है ॥१८८॥

जीवाजीवाः पुण्यं पापास्त्रवसंवराः सनिर्जरणाः ।
बन्धो मोक्षश्चैते सम्यक् चिन्त्या नवपदार्थाः ॥१८९॥

अर्थ : जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध एवं मोक्ष-इन नौ पदार्थों का अच्छी तरह चिन्तन करना चाहिए ॥१८९॥

जीवा मुक्ताः संसारिणश्च संसारिणस्त्वनेकविधाः ।
लक्षणतो विज्ञेया द्वित्रिचतुः पञ्चषड्भेदाः ॥१९०॥

अर्थ : जीव दो तरह के होते हैं-मुक्त जीव एवं संसारी जीव । संसारी जीव दो-तीन-चार-पाँच-छह वगैरह अनेक तरह के होते हैं । उन जीवों को लक्षण से जानने चाहिए ॥१९०॥

द्विविधाश्चराचराख्यास्त्रिविधाः स्त्रीपुंनपुंसका ज्ञेयाः ।
नारकतिर्यग्मानुषदेवाश्चचतुर्विधाः प्रोक्ताः ॥१९१॥

पञ्चविधास्त्वेकद्वित्रिचतुः पञ्चेन्द्रियाश्च निर्दिष्टाः ।
क्षित्यम्बुवह्निपवनतरवस्त्रसाश्चेति षड्भेदाः ॥१९२॥

अर्थ : (संसारी जीव) चर (त्रस) और अचर (स्थावर) नामक दो तरह के बताये गये हैं। स्त्री-पुरुष, नपुंसक-तीन प्रकार के हैं। नारक तिर्यंच, मनुष्य एवं देव-ये चार प्रकार के कहे जाते हैं। एकेन्द्रिय-बेइन्द्रिय-तेइन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय-इस प्रकार के जीव गिने गये हैं। पृथ्वी-पानी-अग्नि-वायु-वनस्पति एवं त्रस, ये भेद बतलाये गये हैं ॥१९१-१९२॥

एवमनेकविधानामेकैको विधिरनन्तपर्यायः ।
प्रोक्तः स्थित्यवगाहज्ञानदर्शनादिपर्यायैः ॥१९३॥

अर्थ : स्थिति, अवगाहना, ज्ञान, दर्शन इत्यादि पर्यायों की अपेक्षा से इस तरह अनेक भेदों का [जीवों का] एक-एक भेद (मूल भेद) अनंत-अनंत पर्याययुक्त कहा गया है ॥१९३॥

सामान्यं खलु लक्षणमुपयोगो भवति सर्वजीवानाम् ।
साकारोऽनाकारश्च सोऽष्टभेदश्चतुर्धा च ॥१९४॥

अर्थ : सभी जीवों का सामान्य लक्षण होता है उपयोग। उस उपयोग के दो प्रकार है : साकार एवं अनाकार। साकार उपयोग के आठ प्रकार है व अनाकार उपयोग के चार प्रकार है ॥१९४॥

ज्ञानाऽज्ञाने पञ्चत्रिविकल्पे सोऽष्टधा तु साकारः ।
चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदृग्विषयस्त्वनाकारः ॥१९५॥

अर्थ : पाँच प्रकार के ज्ञान और तीन प्रकार के अज्ञान–ये आठ प्रकार के साकार उपयोग हैं । चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन एवं केवलदर्शन ये चार प्रकार के अनाकार उपयोग हैं ॥१९५॥

भावा भवन्ति जीवस्यौदयिकः पारिणामिकश्चैव ।
औपशमिकः क्षयोत्थः क्षयोपशमजश्च पञ्चैते ॥१९६॥

अर्थ : जीव के औदयिक, पारिणामिक औपशमिक, क्षायिक एवं क्षायोपशमिक ये पाँच भाव होते हैं ॥१९६॥

ते चैकविंशति–त्रि–द्वि–नवाष्टादशविधाश्च विज्ञेयाः ।
षष्ठश्च सान्निपातिक इत्यन्यः पञ्चदशभेदः ॥१९७॥

अर्थ : वे (औदायिक भाव वगैरह) २१–३–२–९ एवं १८ प्रकार के (क्रमशः) जानने चाहिए । दूसरा 'सान्नि–पातिक' नाम का छठा भाव है । उसके पन्द्रह प्रकार हैं ॥१९७॥

एभिर्भावैः स्थानं गतिमिन्द्रियसम्पदः सुखं दुःखम् ।
संप्राप्नोतीत्यात्मा सोऽष्टविकल्पः समासेन ॥१९८॥

अर्थ : इन भावों से आत्मा स्थान, गति, इन्द्रिय, संपत्ति, सुख एवं दुःख प्राप्त करता है । संक्षेप में उसके

आठ भेद हैं ॥१९८॥

द्रव्यं कषाय योगादुपयोगो ज्ञानदर्शने चेति ।
चारित्रं वीर्यं चेत्यष्टविधा मार्गणा तस्य ॥१९९॥

अर्थ : द्रव्य, कषाय, योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं वीर्य–आत्मा की ये आठ प्रकार की गवेषणाएँ हैं ॥१९९॥

जीवाजीवानां द्रव्यात्मा सकषायिणां कषायात्मा ।
योगः सयोगिनां पुनरूपयोगः सर्वजीवानाम् ॥२००॥

अर्थ : जीव–अजीवों को द्रव्यात्मा, कषायवालों को कषायात्मा, सयोगियों को योगात्मा तथा सभी जीवों को उपयोगात्मा (कहा जाता है) ॥२००॥

ज्ञानं सम्यग्दृष्टेर्दर्शनमथ भवति सर्वजीवानाम् ।
चारित्रं विरतानां तु सर्वसंसारिणां वीर्यम् ॥२०१॥

अर्थ : सम्यग्दृष्टि वालों को ज्ञानात्मा, सर्व जीवों को दर्शनात्मा, विरतिधरों को चारित्रात्मा व सर्व जीवों को वीर्यात्मा (कहा जाता है) ॥२०१॥

द्रव्यात्मेत्युपचारः सर्वद्रव्येषु नयविशेषेण ।
आत्मादेशादात्मा भवत्यनात्मा परादेशात् ॥२०२॥

अर्थ : नय विशेष से (एक नय–दृष्टिकोण से) सभी द्रव्यों में 'द्रव्यात्मा' ऐसा व्यवहार किया जाता है । आत्मा

की अपेक्षया आत्मा है एवं पर की अपेक्षया अनात्मा है ॥२०२॥

एवं संयोगाल्पबहुत्वाद्यैर्नैकशः स परिमृग्यः ।
जीवस्यैतत् सर्वं स्वतत्त्वमिह लक्षणैर्दृष्टम् ॥२०३॥

अर्थ : इस तरह संयोग, अल्प-बहुत्व वगैरह के द्वारा अनेक प्रकार से आत्मा की परीक्षा करनी चाहिए । यहाँ जीव का यह सारा [विवरण] स्वतत्त्वभूत स्वरूप लक्षणों से देखा गया है ॥२०३॥

उत्पादविगमनित्यत्वलक्षणं यत्तदस्ति सर्वमपि ।
सदसद्वा भवतीत्यन्यथार्पितानर्पितविशेषात् ॥२०४॥

अर्थ : जो उत्पत्ति-व्यय व ध्रौव्य के लक्षण से युक्त है वह सब सत् है । उससे जो विपरीत है वह असत् है । इस तरह अर्पित-अनर्पित के भेद से वस्तु सत्-असत् होती है ॥२०४॥

योऽर्थो यस्मिन्नाभूत् साम्प्रतकाले च दृश्यते तत्र ।
तेनोत्पादस्तस्य विगमस्तु तस्माद्विपर्यासः ॥२०५॥

साम्प्रतकाले चानागते च यो यस्य भवति सम्बन्धी ।
तेनाविगमस्तस्येति स नित्यस्तेन भावेन ॥२०६॥

अर्थ : जिसमें वह अर्थ नहीं था पर वर्तमान काल में दिखायी दे रहा है, उसकी उस अर्थ में उत्पत्ति है और उससे

विपरीत विनाश दिखता है। वस्तु का जो स्वरूप वर्तमान काल में, अतीतकाल में [च शब्द का अर्थ : अतीत-भूतकाल करना है] और भविष्य काल में होता है, उस स्वरूप में उस वस्तु का नाश न होना, यह स्वरूप से नित्यता है ॥२०५-२०६॥

धर्माधर्माकाशानि पुद्गलाः काल एव चाजीवाः ।
पुद्गलवर्जमरूपं तु रूपिणः पुद्गलाः प्रोक्ताः ॥२०७॥

अर्थ : धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, पुद्गलद्रव्य एवं काल, ये (पाँच) अजीव द्रव्य है। पुद्गल के अलावा सभी चारों द्रव्य अरूपी हैं एवं पुद्गलद्रव्य रूपी कहे गये हैं ॥२०७॥

द्व्यादिप्रदेशवन्तो यावदनन्तप्रदेशिकाः स्कन्धाः ।
परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजनीयः ॥२०८॥

अर्थ : दो आदि प्रदेशों से लेकर अनंत प्रदेश वाले स्कंध होते हैं। परमाणु अप्रदेशी हैं (पर) रूप वगैरह गुणों की अपेक्षया वे सप्रदेशी हैं ॥२०८॥

भावे धर्माधर्माम्बरकालाः पारिणामिके ज्ञेयाः ।
उदयपरिणामि रूपं तु सर्वभावानुगा जीवाः ॥२०९॥

अर्थ : धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल-इन चारों द्रव्यों को 'पारिणामिक भाव' में जानना।

पुद्गलास्तिकाय को औदयिक व पारिणामिक भाव में एवं जीव को सभी जीवों में जानना चाहिए ॥२०९॥

जीवाजीवा द्रव्यमिति षड्विधं भवति लोकपुरुषोऽयम् ।
वैशाखस्थानस्थः पुरुष इव कटिस्थकरयुग्मः ॥२१०॥

अर्थ : इस तरह जीव व अजीव के भेद से छह द्रव्य होते हैं। यह लोकपुरुष है। अपने दो हाथ कमर पर रखकर, दो पैर फैलाकर [ज्यों धनुषधारी दो पैर फैलाकर खड़ा रहे वैशाखस्थान] खड़े पुरुष जैसे लोकपुरुष हैं ॥२१०॥

तत्राधोमुखमल्लकसंस्थानं वर्णयन्त्यधोलोकम् ।
स्थालमिव च तिर्यग्लोकमूर्ध्वमथ मल्लकसमुद्गम् ॥२११॥

सप्तविधोऽधोलोकस्तिर्यग्लोको भवत्यनेकविधः ।
पञ्चदशविधानः पुनरुर्ध्वलोकः समासेन ॥२१२॥

अर्थ : उस लोक में अधोलोक का आकार उल्टे रखे गये शराव (प्याले) के आकार जैसा है। [ऊपर संक्षिप्त, नीचे विशाल] तिर्यग्लोक का आकार थाली के आकार जैसा है एवं उर्ध्वलोक का आकार खड़े रखे गये शराव पर उलटे रखे गये शराव के आकार जैसा है [शरावसंपुट जैसा] अधोलोक के सात भेद हैं। तिर्यक्लोक के अनेक भेद हैं एवं उर्ध्वलोक के संक्षेप में पन्द्रह भेद हैं ॥२११-२१२॥

**लोकालोकव्यापकमाकाशं मर्त्यलौकिकः कालः ।
लोकव्यापि चतुष्टयमवशेषं त्वेकजीवो वा ॥२१३॥**

अर्थ : आकाशद्रव्य, लोक एवं अलोक में व्यापक है। काल का व्यहार मनुष्य लोक में ही है । शेष चारों द्रव्य लोकव्यापी हैं । एक जीव भी लोकव्यापी बन सकता है ॥२१३॥

**धर्माधर्माकाशानि एकैकमतः परं त्रिकमनन्तम् ।
कालं विनास्तिकाया जीवमृते चाप्यकर्तृणि ॥२१४॥**

अर्थ : धर्म, अधर्म व आकाश एक-एक है । शेष तीनों द्रव्य अनन्त हैं । काल के अलावा पाँचों द्रव्य अस्तिकाय हैं, और जीव के अतिरिक्त द्रव्य अकर्त्ता है । [मात्र जीव ही कर्त्ता है] ॥२१४॥

**धर्मो गतिस्थितिमतां द्रव्याणां गत्युपग्रहविधाता ।
स्थित्युपकृच्चाधर्मोऽवकाशदानोपकृद् गमनम् ॥२१५॥**

अर्थ : गति व स्थितिवाले द्रव्यों के लिए गति करने में धर्मास्तिकाय सहायक होता है । अधर्मास्तिकाय स्थिरता करने में सहायक है और आकाशास्तिकाय अवकाश देने में सहायक होता है ॥२१५॥

**स्पर्शरसगन्धवर्णाः शब्दो बन्धश्च सूक्ष्मता स्थौल्यम् ।
संस्थानं भेदतमश्छायोद्योतातपश्चेति ॥२१६॥**

अर्थ : स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, बंध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, खण्ड, अन्धकार, छाया, प्रकाश [चन्द्र का] और ताप [सूर्य का] ॥२१६॥

कर्मशरीरमनोवाग्विचेष्टितोच्छ्वासदुःखसुखदाः स्युः ।
जीवितमरणोपग्रहकराश्च संसारिणः स्कन्धाः ॥२१७॥

अर्थ : संसारी जीवों के कर्म [ज्ञानावरणादि] शरीर, मन, वचन, क्रिया, श्वास-उच्छ्वास, सुख-दुःख देने वाले स्कंध [पुद्गल] हैं, जीवन और मरण में सहायक स्कंध है [ये सभी पुद्गल के उपकार हैं] ॥२१७॥

परिणामवर्तनाविधिः परापरत्वगुणलक्षणः कालः ।
सम्यक्त्वज्ञानचारित्रवीर्यशिक्षागुणाः जीवाः ॥२१८॥

अर्थ : परिणाम, वर्तना की विधि, परत्व-अपरत्वगुण काल के लक्षण हैं । सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, वीर्य एवं शिक्षा [ये] जीव के गुण हैं ॥२१८॥

पुद्गलकर्म शुभं यत् तत् पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम् ।
यदशुभमथ तत्पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम् ॥२१९॥

अर्थ : जो पुद्गल कर्म शुभ है वह पुण्य है, ऐसा जिनशासन में देखा गया है। जो अशुभ है वह पाप है। ऐसा सर्वज्ञ के द्वारा कथित है ॥२१९॥

योगः शुद्धः पुण्यास्त्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः ।
वाक्कायमनोगुप्तिर्निराश्रवः संवरस्तूक्तः ॥२२०॥

अर्थ : शुद्ध योग पुण्य का आश्रव है । अशुद्ध योग पाप का आस्त्रव है । मन वचन काया की गुप्ति निरास्त्रव है, अर्थात् वह संवर कहलाता है ॥२२०॥

संवृततपउपधानं तु निर्जरा कर्मसन्ततिर्बन्धः ।
बन्धवियोगो मोक्षस्त्विति संक्षेपान्नव पदार्थाः ॥२२१॥

अर्थ : संवर से युक्त जीवात्मा का तप-उपधान निर्जरा, कर्मों की संतति बंध, बंध का वियोग (अभाव) मोक्ष । इस तरह संक्षेप में नौ पदार्थ (तत्व) बतलाये गये हैं ॥२२१॥

एतेष्वध्यवसायो योऽर्थेषु विनिश्चयेन तत्त्वमिति ।
सम्यग्दर्शनमेतच्च तन्निसर्गादधिगमाद्वा ॥२२२॥

अर्थ : इन जीव वगैरह पदार्थों में परमार्थ से "यही तत्त्व है," ऐसा अध्यवसाय होता है, वह सम्यग्दर्शन है । यह सम्यग्दर्शन स्वाभाविक रूप में या अधिगम से-बाह्यनिमित्त से होता है ॥२२२॥

शिक्षागमोपदेशश्रवणान्येकार्थिकान्यधिगमस्य ।
एकार्थः परिणामो भवति निसर्गः स्वभावश्च ॥२२३॥

अर्थ : शिक्षा, आगम, उपदेश, श्रवण-ये अधिगम के

समानार्थक हैं व परिणाम, निसर्ग, स्वभाव–ये तीन एकार्थ हैं ॥२२३॥

एतत्सम्यग्दर्शनमनधिगमविपर्ययौ तु मिथ्यात्वम् ।
ज्ञानमथ पञ्चभेदं तत् प्रत्यक्षं परोक्षं च ॥२२४॥

अर्थ : यह सम्यग्दर्शन है । अनधिगम [तत्त्वार्थ की अश्रद्धा] और विपर्यय [विपरीत श्रद्धा] मिथ्यात्व है । ज्ञान के पाँच भेद हैं । उसके प्रकार हैं : प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ॥२२४॥

तत्र परोक्षं द्विविधं श्रुतमाभिनिबोधिकं च विज्ञेयम् ।
प्रत्यक्षं चावधिमनःपर्यायौ केवलं चेति ॥२२५॥

अर्थ : उसमें (पाँच ज्ञान में) परोक्षज्ञान जिसे दो तरह का जानना चाहिए । श्रुतज्ञान एवं आभिनिबोधिक ज्ञान । और अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान एवं केवलज्ञान–इन्हें प्रत्यक्ष ज्ञान जानना चाहिए ॥२२५॥

एषामुत्तरभेदविषयादिभिर्भवति विस्तराधिगमः ।
एकादीन्येकस्मिन् भाज्यानि त्वाचतुर्भ्य इति ॥२२६॥

अर्थ : इन ज्ञानों के उत्तर भेद एवं विषय वगैरह से विस्तृत ज्ञान होता है । एक जीव में एक से लेकर चार ज्ञान तक के विभाग करने चाहिए ॥२२६॥

सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमिति नियमतः सिद्धम् ।
आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिथ्यात्वसंयुक्तम् ॥२२७॥

अर्थ : सम्यग्दृष्टि का ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहा जाता है, यह नियम से सिद्ध है। प्रारम्भ के तीन ज्ञान, मति, श्रुत व अवधि, मिथ्यात्व से संयुक्त हो तब मिथ्या बनते हैं ॥२२७॥ [अज्ञान बनते है]

सामायिकमित्याद्यं छेदोपस्थापनं द्वितीयं तु ।
परिहारविशुद्धिः सूक्ष्मसम्परायं यथाख्यातम् ॥२२८॥

अर्थ : पहला सामायिक, दूसरा है छेदोपस्थानपनीय, तीसरा परिहारविशुद्धि, चौथा सूक्ष्मसंपराय एवं पाँचवा है यथाख्यात ॥२२८॥

इत्येतत् पञ्चविधं चारित्रं मोक्षसाधनं प्रवरम् ।
नैकेरनुयोगनयप्रमाणमार्गैः समनुगम्यम् ॥२२९॥

अर्थ : इस तरह ये पाँच प्रकार के चारित्र मोक्ष के प्रधान (प्रमुख) कारण हैं। उसे [चारित्र को] अनेक तरह के अनुयोग, नय एवं प्रमाणों से भलीभांति जानना चाहिए ॥२२९॥

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रसंपदः साधनानि मोक्षस्य ।
तास्वेकतराऽभावेऽपि मोक्षमार्गोऽप्यसिद्धिकरः ॥२३०॥

अर्थ : सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यग्चारित्ररूप

संपदाएँ मोक्ष के साधन रूप हैं । उनमें से एक के भी अभाव में (अनुपस्थिति में) मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं होती है ॥२३०॥

पूर्वद्वयसम्पद्यपि तेषां भजनीयमुत्तरं भवति ।
पूर्वद्वयलाभः पुनरुत्तरलाभे भवति सिद्धः ॥२३१॥

अर्थ : प्रथम दो [सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान] होने पर भी सम्यग्चारित्र की भजना (हो भी, न भी हो) होती है । चारित्र हो भी सकता है...नहीं भो हो सकता है, परन्तु सम्यग्चारित्र के होने पर तो सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान होते ही हैं ॥२३१॥

धर्मावश्यकयोगेषु भावितात्मा प्रमादपरिवर्जी ।
सम्यक्त्वज्ञानचारित्राणामाराधको भवति ॥२३२॥

अर्थ : धर्म में [क्षमा वगैरह] एवं आवश्यक क्रियाओं में [प्रतिक्रमण वगैरह] श्रद्धाशील व अप्रमादी आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान एवं चारित्र का आराधक बनता है ॥२३२॥

आराधनाश्च तेषां तिस्रस्तु जघन्यमध्यमोत्कृष्टाः ।
जन्मभिरष्टत्र्येकैः सिध्यन्त्याराधकास्तासाम् ॥२३३॥

अर्थ : उनकी जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट यों तीन प्रकार की आराधना [सम्यग्दर्शन वगैरह की] होती है । उसमें क्रमशः आठ, तीन एवं एक भव में आराधक सिद्धि को प्राप्त करते हैं । मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥२३३॥

तासामाराधनतत्परेण तेष्वेव भवति यतितव्यम् ।
यतिना तत्परजिनभक्त्युपग्रहसमाधिकरणेन ॥२३४॥

अर्थ : सम्यग्दर्शन वगैरह की आराधना में तत्पर मुनि को चाहिए कि वे उसी में तत्पर रहे । इसके लिए जिनेश्वरभक्ति, साधुसेवा जीव समाधि वगैरह में उसे सदा रत रहना चाहिए ॥२३४॥

स्वगुणाभ्यासरतमतेः परवृत्तान्तान्धमूकबधिरस्य ।
मदमदनमोहमत्सररोषविषादैरधृष्यस्य ॥२३५॥

अर्थ : जिसकी बुद्धि आत्मगुणों के अभ्यास में रत है...जो दूसरों की बातों में अंध-मूक एवं बधिर बना रहता है, जो गर्व, काम, मोह मत्सर, रोष एवं विषाद से अभिभूत नहीं बनता है ॥२३५॥

प्रशमाव्याबाधसुखाभिकांक्षिणः सुस्थितस्य सद्धर्मे ।
तस्य किमौपम्यं स्यात् सदेवमनुजेऽपि लोकेऽस्मिन् ॥२३६॥

अर्थ : जो प्रशमसुख एवं अव्याबाध सुख का इच्छुक है...जो सद्धर्म में सुदृढ है वैसे आराधक को, देव एवं मनुष्य के इस लोक में किसकी उपमा दी जा सकती है ? ॥२३६॥

स्वर्गसुखानि परोक्षाण्यत्यन्तपरोक्षमेव मोक्षसुखम् ।
प्रत्यक्षं प्रशमसुखं न परवशं न व्ययप्राप्तम् ॥२३७॥

अर्थ : स्वर्ग के सुख परोक्ष हैं और मोक्ष का सुख तो

अत्यन्त परोक्ष है...प्रशमसुख प्रत्यक्ष है...न तो वह पराधीन है न ही नाशवंत है ॥२३७॥

निर्जितमदमदानानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥२३८॥

अर्थ : जिन्होंने मद और काम को जीत लिया है...जो मन-वचन-काया के विकारों से मुक्त हैं...परपदार्थों की आशाएँ जिनकी अवशेषभूत हो चुकी हैं...वैसे सुविहित [शास्त्रविहित विधि के पालक-वाहक] मुनियों के लिए तो यहीं पर [इस वर्तमान जीवन में ही] मोक्ष है ॥२३८॥

शब्दादिविषयपरिणाममनित्यं दुःखमेव च ज्ञात्वा ।
ज्ञात्वा च रागदोषात्मकानि दुःखानि संसारे ॥२३९॥

स्वशरीरेऽपि न रज्यति शत्रावपि न प्रदोषमुपयाति ।
रोगजरामरणभयैरव्यथितो यः स नित्यसुखी ॥२४०॥

अर्थ : जो [आराधक] शब्द वगैरह विषयों के परिणाम को अनित्य एवं दुःखरुप जानकर व संसार में रागद्वेषात्मक दुःखों को जानकर अपने शरीर पर भी राग नहीं करता है और दुश्मन के प्रति भी द्वेष नहीं करता है, वह रोग-बुढ़ापा और मृत्यु से अव्यथित रहता है और वह (इस तरह) सर्वदा सुखी होता है ॥२३९-२४०॥

**धर्मध्यानाभिरतस्त्रिदण्डविरतस्त्रिगुप्तिगुप्तात्मा ।
सुखमास्ते निर्द्वन्द्वो जितेन्द्रियपरिषहकषायः ॥२४१॥**

अर्थ : धर्मध्यान में लयलीन, तीन दण्ड [मनदण्ड, वचनदण्ड, कायदण्ड] से विरत, तीन गुप्ति से गुप्त–सुरक्षित, इन्द्रिय–परिषह–कषाय के विजेता निर्द्वन्द्व मुनि सुखपूर्वक रहते हैं ॥२४१॥

**विषयसुखनिरभिलाषः प्रशमगुणगणाभ्यलंकृतः साधुः ।
द्योतयति यथा सर्वाण्यादित्यः सर्वतेजांसि ॥२४२॥**

अर्थ : जैसे सूरज, तारा वगैरह के प्रकाश अभिभूत करके (स्वयं के तेज से) प्रकाशमान होता है, वैसे ही विषयसुख की अभिलाषा से रहित एवं प्रशमगुणों के समूह से सुशोभित मुनि (देव–मनुष्य वगैरह के तेज सुख को अभिभूत करके) प्रकाशमान होता है ॥२४२॥

**सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी विरतितपोबलयुतोऽप्यनुपशान्तः ।
तं न लभते गुणं यं प्रशमगुणमुपाश्रितो लभते ॥२४३॥**

अर्थ : सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी और व्रत–तपोबलयुक्त होने पर भी जो साधक उपशान्त नहीं होता है वह, वैसे गुणों को प्राप्त नहीं कर सकता, जिन गुणों को प्रशमसुख में डूबा हुआ साधक प्राप्त करता है ॥२४३॥

सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी विरतितपोध्यानभावनायोगैः ।
शीलाङ्गसहस्राष्टादशकमयत्नेन साधयति ॥२४४॥

अर्थ : सम्यग्दृष्टि ज्ञानी व्रत-तप ध्यान-भावना और योग से शील के १८ हजार अंगों को बिना प्रयास के साध लेता है ॥२४४॥

धर्माद् भूम्यादीन्द्रियसंज्ञाभ्यः करणतश्च योगाश्च ।
शीलाङ्गसहस्राणामष्टादशकस्यास्ति निष्पत्तिः ॥२४५॥

अर्थ : धर्म से, पृथ्वीकाय, वगैरह से, इन्द्रियों से, संज्ञा से, करण और योग से शील के १८ हजार अंगों की उत्पत्ति होती है ॥२४५॥

शीलार्णवस्य पारं गत्वा संविग्नसुगमपारस्य ।
धर्मध्यानमुपगतो वैराग्यं प्राप्नुयाद्योग्यम् ॥२४६॥

अर्थ : संसारभीरु मुनि के द्वारा सरलता से पार किया जा सके वैसे शीलरूप समुद्र को पारकर जो मुनि धर्मध्यान में तत्पर रहता है, उसे योग्य वैराग्य की प्राप्ति होती है ॥२४६॥

आज्ञाविचयमपायविचयं च सद्ध्यानयोगमुपसृत्य ।
तस्माद्विपाकविचयमुपयाति संस्थानविचयं च ॥२४७॥

अर्थ : [शीलांग-समुद्र का पारगामी साधु] आज्ञाविचय और अपायविचय नामक ध्यानयोग को प्राप्तकर, विपाकविचय

एवं संस्थानविचय को प्राप्त करते हैं ॥२४७॥

आप्तवचनं प्रवचनं चाज्ञा विचयस्तदर्थनिर्णयनम् ।
आस्त्रव-विकथा-गौरव-परीषहाद्यैरपायस्तु ॥२४८॥

अर्थ : आप्त का वचन वह प्रवचन [आगम] , उसका अर्थनिर्णय वह आज्ञाविचय और आस्त्रव, विकथा, गारव, परिषह वगैरह में अनर्थ का चिन्तन करना, वह है अपायविचय ॥२४८॥

अशुभ-शुभकर्मपाकानुचिन्तनार्थो विपाकविचयः स्यात् ।
द्रव्यक्षेत्राकृत्यनुगमनं संस्थानविचयस्तु ॥२४९॥

अर्थ : अशुभ और शुभ कर्मों के विपाक का विचार करना उसे विपाकविचय कहते हैं और द्रव्य तथा क्षेत्र के आकार का चिन्तन करना उसे संस्थानविचय कहा जाता है ॥२४९॥

जिनवरवचनगुणगणं संचिन्तयतो वधाद्यपायांश्च ।
कर्मविपाकान् विविधान् संस्थानविधीननेकांश्च ॥२५०॥

अर्थ : जिनवरवचनों में व्याप्त गुणसमूह को, हिंसा वगैरह के अनर्थों को, विविध कर्मविपाकों को तथा अनेक प्रकार की आकृतियों को सोचने वाले साधु को ॥२५०॥

नित्योद्विग्नस्यैवं क्षमाप्रधानस्य निरभिमानस्य ।
धूतमायाकलिमलनिर्मलस्य जितसर्वतृष्णस्य ॥२५१॥

अर्थ : इस तरह संसार से सर्वदा भयभीत, क्षमाशील, अभिमानरहित, मायारूप कालिमा को धो डालने से उज्ज्वल निर्मल एवं सर्व तृष्णा के विजेता बने हुए साधु को ॥२५१॥

तुल्यारण्यकुलाकुलविविक्तबन्धुजनशत्रुवर्गस्य ।
समवासीचन्दनकल्पनप्रदेहादिदेहस्य ॥२५२॥

अर्थ : जिसके लिये वन और नगर [जनपद] समान हैं...स्वजनवर्ग और शत्रुवर्ग जिसकी आत्मा से अलग हैं [अर्थात् मित्र-शत्रु पर तुल्यवृत्ति है] कोई बांस से शरीर को चीर डाले या कोई चन्दन से देह को विलेपन करे...दोनों के प्रति जिसे समान भाव है वैसे साधु को ॥२५२॥

आत्मारामस्य सतः समतृणमणिमुक्तलोष्ठकनकस्य ।
स्वाध्यायध्यानपरायणस्य दृढमप्रमत्तस्य ॥२५३॥

अर्थ : आत्मा में ही रममाण, तृण एवं मणि को एक-सा समझने वाला, मिट्टी की भांति सोने का भी त्यागी, स्वाध्याय ध्यान में तत्पर, प्रमाद से बिल्कुल निर्लेप वैसे साधु को ॥२५३॥

अध्यवसायविशुद्धेः प्रशस्तयोगैर्विशुद्ध्यमानस्य ।
चारित्रशुद्धिमग्रयामवाप्य लेश्याविशुद्धिं च ॥२५४॥

अर्थ : अध्यवसायविशुद्धि के कारण प्रमत्तयोगों की

अपेक्षया विशुद्ध योगवाले, श्रेष्ठ चारित्रशुद्धि एवं लेश्याशुद्धि को प्राप्त करनेवाले साधु को ॥२५४॥

तस्यापूर्वकरणमथ घातिकर्मक्षयैकदेशोत्थम् ।
ऋद्धिप्रवेकविभवादुपजातं जातभद्रस्य ॥२५५॥

अर्थ : वैसे कल्याणमूर्ति साधु को घाती कर्मों के क्षय से या एकदेश [आंशिक] के क्षय से उत्पन्न होनेवाली अनेक प्रकार की ऋद्धियों के वैभव से युक्त अपूर्वकरण [नामक गुणस्थानक] प्राप्त होता है ॥२५५॥

सातर्द्धिरसेष्वगुरूः सम्प्राप्यर्द्धि विभूतिमसुलभामन्यैः ।
सक्तः प्रशमरतिसुखे न भजति तस्यां मुनिः सङ्गम् ॥२५६॥

अर्थ : शाता, ऋद्धि और रस में प्रेम नहीं रखने वाले एवं प्रशमरति के सुख में आसक्त मुनि, दूसरों से अप्राप्य वैसी विभूति [लब्धि] प्राप्त करके भी उसमें ममत्व नहीं रखते ॥२५६॥

या सर्वसुरवरर्द्धिर्विस्मयनीयाऽपि साऽनगारर्द्धेः ।
नार्घति सहस्त्रभागं कोटिशतसहस्त्रगुणिताऽपि ॥२५७॥

अर्थ : आश्चर्यकारी वैसी देवेन्द्र की ऋद्धि [विभूति] को भी यदि एक लाख करोड़ से गुणाकार की जाये तो भी वह अणगार की ऋद्धि के एक हजारवें हिस्से में भी नहीं आती ॥२५७॥

तज्जयमवाप्य जितविघ्नरिपुर्भवशतसहस्त्रदुष्प्रापम् ।
चारित्रमथाख्यातं सम्प्राप्तस्तीर्थकृत्तुल्यम् ॥२५८॥

अर्थ : उस पर विजय प्राप्त करके [विभूति-लब्धि का उपयोग न करते हुए] विघ्न करनेवाले शत्रु [क्रोध वगैरह कषायों] को जीतकर, लाखों जन्मों में दुर्लभ, तीर्थंकर के जैसा 'यथाख्यात-चारित्र' प्राप्त करता है ॥२५८॥

शुक्लध्यानाद्यद्वयमवाप्य कर्माष्टकप्रणेतारम् ।
संसारमूलबीजं मूलादुन्मूलयति मोहम् ॥२५९॥

अर्थ : प्रथम दो शुक्लध्यान [पृथक्त्व वितर्क सविचार एवं एकत्व वितर्क-अविचार] प्राप्त करके [ध्यान करके] आठों कर्मों के नायक एवं संसारवृक्ष के मूल बीजरूप मोह को [साधक] जड़मूल से उखाड़ फेंकता है ॥२५९॥

पूर्वं करोत्यनन्तानुबन्धिनाम्नां क्षयं कषायाणाम् ।
मिथ्यात्वमोहगहनं क्षपयति सम्यक्त्वमिथ्यात्वम् ॥२६०॥

अर्थ : [साधक] पहले अनंतानुबंधी नामक कषायों का [क्रोध-मान-माया-लोभ] नाश करता है...इसके बाद प्रबल मिथ्यात्व-मोह का क्षय करता है, तत्पश्चात् मिश्रमोह का क्षय करता है ॥२६०॥

सम्यक्त्वमोहनीयं क्षपयत्यष्टावतः कषायांश्च ।
क्षपयति ततो नपुंसकवेदं स्त्रीवेदमथ तस्मात् ॥२६१॥

अर्थ : [इसके बाद] सम्यक्त्व मोहनीय का नाश करता है। पश्चात् आठ कषायों का [अप्रत्याख्यानावरण क्रोध वगैरह चार एवं प्रत्याख्यानावरण क्रोध वगैरह चार] क्षय करता है। इसके बाद नपुंसकवेद का नाश करता है। तत्पश्चात् स्त्रीवेद का क्षय करता है ॥२६१॥

हास्यादि ततः षट्कं क्षपयति तस्माच्च पुरुषवेदमपि ।
संज्वलनानपि हत्वा प्राप्नोत्यथ वीतरागत्वम् ॥२६२॥

अर्थ : [तत्पश्चात्] हास्य वगैरह छह प्रकृतियों का क्षय करता है फिर पुरुषवेद का क्षय करता है। इसके बाद संज्वलन कषायों को नष्ट करके वीतरागता प्राप्त करता है ॥२६२॥

सर्वोद्घातितमोहो निहतक्लेशो यथा हि सर्वज्ञः ।
भात्यनुपलक्ष्यराह्वंशोन्मुक्तः पूर्णचन्द्र इव ॥२६३॥

अर्थ : समस्त मोह को नष्ट करनेवाले एवं क्लेशों [क्रोधादि का] का हनन करनेवाले मुनि, नहीं दिखनेवाले राहु के मुख वगैरह अंशों से मुक्त पूर्णचन्द्र की भांति शोभायमान होते हैं ॥२६३॥

सर्वेंधनैकराशीकृतसन्दीप्तोह्यनन्तगुणतेजाः ।
ध्यानानलस्तपःप्रशमसंवरहविर्विवृद्धबलः ॥२६४॥

अर्थ : सभी इंधनों का ढेर लगाकर उसे सुलगाया जाये और वह जिस ढंग से जल उठता है...उससे भी अनंतगुनी

तेजयुक्त [शक्तियुक्त] ध्यानाग्नि होती है। चूंकि उसमें तप, प्रशम और संवर को भी डाला गया होता है । उससे ध्यानानल की शक्ति बढ़ती है ॥२६४॥

क्षपकश्रेणिमुगपतः स समर्थः सर्वकर्मिणां कर्म ।
क्षपयितुमेको यदि कर्मसंक्रमः स्यात् परकृतस्य ॥२६५॥

अर्थ : क्षपकश्रेणि पर चढ़ी हुई वह आत्मा, यदि दूसरे जीवों के द्वारा बांधे गये कर्मो का [स्वयं में] संक्रमण हो सकता हो तो, अकेले ही सभी जीवों के कर्मों का क्षय करने में समर्थ होती है ॥२६५॥

परकृतकर्माणि यस्मान्नाक्रामति संक्रमो विभागो वा ।
तस्मात् सत्त्वानां कर्म यस्य यत्तेन तद्वेद्यम् ॥२६६॥

अर्थ : परन्तु एक जीव के कर्म दूसरे जीव के कर्मों में न तो सम्पूर्णता संक्रमित होते हैं न ही एकाध अंश-हिस्सा उसमें मिल सकता है। अतः जो जीव कर्म बांधता है वही जीव कर्म भुगतता है ॥२६६॥

मस्तकसूचिविनाशात्तालस्य यथा ध्रुवो भवति नाशः ।
तद्वत् कर्मविनाशो हि मोहनीयक्षये नित्यम् ॥२६७॥

अर्थ : तालवृक्ष को चोटी पर जो सूचि-शाखा ऊगी हुई रहती है, उस शाखा का नाश करने से जैसे तालवृक्ष का नाश अवश्यमेव हो जाता है, उसी भांति मोहनीयकर्म का क्षय होते

ही सारे कर्मों का अवश्य नाश हो जाता है ! ॥२६७॥

छद्मस्थवीतरागः कालं सोऽन्तर्मुहूर्तमथ भूत्वा ।
युगपद् विविधावरणान्तरायकर्मक्षयमवाप्य ॥२६८॥

अर्थ : अन्तर्मुहूर्त (दो घडी-४८ मिनिट) तक वह छद्मस्थ वीतराग रहकर, एक साथ विविध आवरण का क्षय करके...॥२६८॥

शाश्वतमनन्तमनतिशयमनुपममनुत्तरं निरवशेषम् ।
सम्पूर्णमप्रतिहतं सम्प्राप्तः केवलज्ञानम् ॥२६९॥

अर्थ : शाश्वत्, अनन्त, निरतिशय, अनुपम, अनुत्तर, निरवेशष, संपूर्ण और अप्रतिहत केवलज्ञान को प्राप्त करता है ॥२६९॥

कृत्स्ने लोकालोके व्यतीतसाम्प्रतभविष्यतः कालान् ।
द्रव्यगुणपर्यायाणां ज्ञाता द्रष्टा च सर्वार्थैः ॥२७०॥

अर्थ : लोक-अलोक में संपूर्ण वस्तुओं को जानने की वजह से भूत-वर्त्तमान और भविष्यकाल के द्रव्य-गुण और पर्यायों को सभी प्रकार से देखता है, जानता है ॥२७०॥

क्षीणचतुष्कर्मांशो वेद्यायुर्नामगोत्रवेदयिता ।
विहरति मुहूर्त्तकालं देशोनां पूर्वकोटिं वा ॥२७१॥

अर्थ : [घाती] कर्मों को जिसने क्षय कर दिया है वैसे और वेदनीय, आयुष्य, नाम-गोत्र कर्म का अनुभव करने-

वाले [केवलज्ञानी] एक मुहूर्त्त तक या कुछ कम [वर्ष] वैसे 'एक क्रोड़ पूर्व' बरस तक विचरते हैं ॥२७१॥

तेनाभिन्नं चरमभवायुर्दुर्भेदमनपवर्तित्वात् ।
तदुपग्रहं च वेद्यं तत्तुल्ये नामगोत्रे च ॥२७२॥

अर्थ : अन्तिम भव का आयुष्य अभेद्य होता है...चूंकि उसका अपवर्तन नहीं होता [घटाया नहीं जा सकता !] उससे [आयुष्य से] उपग्रहित वेदनीय कर्म भी उसके जितना ही होना चाहिए। [आयुष्य कर्म की जितनी स्थिति हो उतनी ही स्थिति वेदनीय कर्म की होनी चाहिए] नामकर्म व गोत्रकर्म भी उसके समान होने चाहिए ॥२७२॥

यस्य पुनः केवलिनः कर्म भवत्यायुषोऽतिरिक्ततरम् ।
स समुद्घातं भगवानथ गच्छति तत् समीकर्तुम् ॥२७३॥

अर्थ : जिन केवलज्ञानी को आयुष्यकर्म से ज्यादा स्थिति के वेदनीयादि कर्म होते हैं वे भगवान वेदनीयादि तीन कर्मों को आयुष्यकर्म के बराबर–समान करने के लिए 'समुद्घात' करते हैं ॥२७३॥

दण्डं प्रथमे समये कपाटमथ चोत्तरे तथा समये ।
मन्थानमथ तृतीये, लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥२७४॥

अर्थ : पहले समय में दण्ड, दूसरे समय में कपाट, तीसरे समय में मन्थान और चौथे समय में लोकव्यापी होता है ॥२७४॥

संहरति पञ्चमे त्वन्तराणि मन्थानमथ पुनः षष्ठे ।
सप्तमके तु कपाटं संहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ॥२७५॥

अर्थ : पाँचवें समय में मन्थान के अन्तराल के प्रदेशों को दूर करता है [संकुचित बनाता है] छट्ठे समय में मन्थान को संहरित करता है, सातवें समय में कपाट को और आठवें समय में दण्ड को संहरित करता है ॥२७५॥

औदारिकप्रयोक्ता प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः ।
मिश्रौदारिकयोक्ता सप्तम-षष्ठ-द्वितीयेषु ॥२७६॥

अर्थ : पहले और आठवें समय में वह [केवलज्ञानी] औदारिक योगयुक्त इष्ट है [होता है], सातवें, छट्ठे व दूसरे समय में वह मिश्र-औदारिक योगयुक्त इष्ट है [होता है] ॥२७६॥

कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ।
समयत्रयेऽपि तस्मिन् भवत्यनाहारको नियमात् ॥२७७॥

अर्थ : चौथे, पाँचवें और तीसरे समय में वह [केवलज्ञानी] कार्मणकाययोग वाला होता है और इन तीन समय में वे अवश्यमेव अनाहारक होते हैं ॥२७७॥

स समुद्घातनिवृत्तोऽथ मनोवाक्काययोगवान् भगवान् ।
यतियोग्ययोगयोक्ता योगनिरोधं मुनिरुपैति ॥२७८॥

अर्थ : मन-वचन-काया के योग वाले केवलज्ञानी

समुद्घात से निवृत्त होकर मुनियों के योग्य योगों को करते हुए 'योगनिरोध' करते हैं ॥२७८॥

पञ्चेन्द्रियोऽथ संज्ञी यः पर्याप्तो जघन्ययोगी स्यात् ।
निरूणद्धि मनोयोगं ततोऽप्यसंख्यातगुणहीनम् ॥२७९॥

अर्थ : जो पंचेन्द्रिय, संज्ञी, पर्याप्त एवं जघन्य योगवाला होता है, वह उससे भी असंख्यात गुणहीन मनोयोग को रोकता है ॥२७९॥

द्वीन्द्रियसाधारणयोर्वागुच्छ्वासावधो जयति तद्वत् ।
पनकस्य काययोगं जघन्यपर्याप्तकस्याधः ॥२८०॥

अर्थ : जिस तरह (जीवात्मा) मनोयोग का निरोध करता है उसी तरह वचनयोग और श्वासोच्छ्वास का भी निरोध करता है । बेइन्द्रिय जीव को भी वचनयोग होता है और साधारण वनस्पति के जीव को जो श्वासोच्छ्वास होता है, उससे भी असंख्यगुणा हानि से समस्त वचनयोग और श्वासोच्छ्वास का निरोध करता है । इसके पश्चात् जघन्य पर्याप्त साधारण वनस्पति के जीव को जो काययोग होता है, उससे भी असंख्यगुणहीन काययोग का निरोध करता हुआ जीव समस्त काययोग का निरोध करता है ! ॥२८०॥

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति काययोगोपगस्ततो ध्यात्वा ।
विगतक्रियमनिवर्तित्वमुत्तरं ध्यायति परेण ॥२८१॥

अर्थ : काययोग का निरोध करती हुई आत्मा सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती [तीसरा शुक्लध्यान] रचाकर फिर विगतक्रिया-अनिवर्ती [चौथा शुक्लध्यान] लगाती है ॥२८१॥

चरमभवे संस्थानं यादृग् यस्योच्छ्रयप्रमाणं च ।
तस्मात् त्रिभागहीनावगाह-संस्थानपरिणाहः ॥२८२॥

अर्थ : अन्तिमभव में जैसा जिसका संस्थान हो [आकार-आकृति हो] और ऊँचाई हो उससे तृतीयांश कम हो जाता है ॥२८२॥

सोऽथ मनोवागुच्छ्वासकाययोगक्रियार्थविनिवृत्तः ।
अपरिमितनिर्जरात्मा संसारमहार्णवोत्तीर्णः ॥२८३॥

अर्थ : मनोयोग, वचनयोग, श्वासोच्छ्वास और काययोग के निरोध की क्रिया से निवृत्त हुई वह आत्मा कर्मों की अपरिमित निर्जरा करती है और संसाररूप महासागर को तैर जाती है ॥२८३॥

ईषद्ह्रस्वाक्षरपञ्चकोद्गिरणमात्रतुल्यकालीयाम् ।
संयमवीर्याप्तबलः शैलेशीमेति गतलेश्यः ॥२८४॥

अर्थ : संयम और वीर्य से प्राप्त किए हुए बलशाली और अलेशी केवलज्ञानी कुछ एक पाँच ह्रस्वाक्षरों के [ङ य ण न म...] उच्चारण काल-प्रमाण शैलेशी को प्राप्त करते

हैं ॥२८४॥

पूर्वरचितं च तस्यां समयश्रेण्यामथ प्रकृतिशेषम् ।
समये समये क्षपयत्यसंख्यगुणमुत्तरोत्तरतः ॥२८५॥

अर्थ : पहले की शेष कर्मप्रकृतियों की [वेदनीय, नाम, गोत्र, आयुष्य को] शैलेशी की समयपंक्ति में, प्रत्येक समय में असंख्यगुण-असंख्यगुण खपाता है ॥२८५॥

चरमे समये संख्यातीतान् विनिहन्ति चरमकर्मांशान् ।
क्षपयति युगपत् कृत्स्नं वेद्यायुर्नामगोत्रगणम्॥२८६॥

अर्थ : अन्तिम समय में, असंख्य चरम कर्मदलिकों को नष्ट करता है। इस तरह एक साथ समस्त वेदनीय नाम-गोत्र और आयुष्यकर्म का नाश करता है ॥२८६॥

सर्वगतियोग्यसंसारमूलकरणानि सर्वभावीनि ।
औदारिक-तैजस कार्मणानि सर्वात्मना त्यक्त्वा ॥२८७॥

अर्थ : सर्व गति [नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव] के योग्य संसार-परिभ्रमण [जन्म-मृत्यु] में निमित्त व सर्वत्र होनेवाले [चार गति में] औदारिक, तैजस, कार्मण [कहीं पर वैक्रिय-तैजस-कार्मण] शरीरों का उनके सर्वस्वरूप में त्याग करके... ॥२८७॥

देहत्रयनिर्मुक्तः प्राप्य ऋजुश्रेणिवीतिमस्पर्शाम् ।
समयेनैकेनाविग्रहेण गत्वोर्ध्वमप्रतिघः ॥२८८॥

अर्थ : तीन देह से सर्वथा मुक्त आत्मा, स्पर्शरहित ऋजुश्रेणी प्राप्त करके, विग्रहगतिरहित, एक ही समय में अप्रतिहत गति से ऊपर जाकर...॥२८८॥

सिद्धक्षेत्रे विमले जन्मजरामरणरोगनिर्मुक्तः ।
लोकाग्रगतः सिद्धयति साकारेणोपयोगेन ॥२८९॥

अर्थ : जन्म-जरा-मरण-रोग से सर्वथा मुक्त आत्मा, लोक में अग्रभाग पर जाकर विमल वैसे सिद्धिक्षेत्र में साकारपयोग से सिद्ध बनती है ॥२८९॥

सादिकमनन्तमनुपममव्याबाधसुखमुत्तमं प्राप्तः ।
केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनात्मा भवति मुक्तः ॥२९०॥

अर्थ : सादि अनन्त, अनुपम और अव्याबाध उत्तम सुख को प्राप्त हुई मुक्तात्मा, केवल सम्यक्त्वस्वरूप, केवलज्ञानस्वरूप, केवलदर्शनस्वरूप होती है ॥२९०॥

मुक्तः सन्नाभावः स्वालक्षण्यात् स्वतोऽर्थसिद्धेश्च ।
भावान्तरसंक्रान्तेः सर्वज्ञाज्ञोपदेशाच्च ॥२९१॥

अर्थ : अपने लक्षण से, स्वतः अर्थसिद्धि से, भावसंक्रान्ति से और सर्वज्ञभाषित आगम के उपदेश से मुक्त आत्मा अभावरूप नहीं है ! ॥२९१॥

त्यक्त्वा शरीरबन्धनमिहैव कर्माष्टकक्षयं कृत्वा ।
न स तिष्ठत्यनिबन्धादनाश्रयादप्रयोगाच्च ॥२९२॥

अर्थ : शरीर का बन्धन त्यागकर और आठ कर्मों का क्षयकर वह [मुक्तात्मा] यहाँ पर रुकती नहीं है, चूंकि रुकने का कोई कारण नहीं होता है, न ही कोई आश्रय होता है, न कोई व्यापार [क्रिया] होता है ॥२९२॥

नाधो गौरवविगमादशक्यभावाच्च गच्छति विमुक्तः ।
लोकान्तादपि न परं प्लवक इवोपग्रहाभावात् ॥२९३॥

अर्थ : गुरुता [भार-वजन] नष्ट हो जाने से, अशक्य भाव के कारण वह [आत्मा] नीचे नहीं जाती है । उपग्रहकारी [धर्मास्तिकाय] के अभाव में लोकान्त के ऊपर भी नहीं जाती है...जहाज की भांति ॥२९३॥

योगप्रयोगयोश्चाभावात्तिर्यग् न तस्य गतिरस्ति ।
सिद्धस्योर्ध्वं मुक्तस्यालोकान्ताद्गतिर्भवति ॥२९४॥

अर्थ : योग एवं क्रिया का अभाव होने से मुक्तात्मा तिरछी भी नहीं जाती है । अतः मुक्त हुई सिद्ध आत्मा की लोकान्त तक ही उर्ध्वगति होती है ॥२९४॥

पूर्वप्रयोगसिद्धेर्बन्धच्छेदादसङ्गभावाच्च ।
गतिपरिणामाच्च तथा सिद्धस्योर्ध्वं गतिः सिद्धा ॥२९५॥

अर्थ : [इस तरह] पूर्वप्रयोगसिद्ध होने के कारण, कर्मबन्ध का नाश होने से, असंगभाव होने के कारण और उर्ध्वगमन का स्वभाव होने से सिद्ध आत्मा की उर्ध्वगति

सिद्ध होती है ॥२९५॥

देहमनोवृत्तिभ्यां भवतः शारीरमानसे दुःखे ।
तदभावात्तदभावे सिद्धं सिद्धस्य सिद्धिसुखम् ॥२९६॥

अर्थ : देह एवं मान के सद्भाव से शारीरिक व मानसिक दुःख होता है । शरीर और मन के अभाव से सिद्धात्मा का सिद्धसुख सिद्ध होता है ॥२९६॥

यस्तु यतिर्घटमानः सम्यक्त्वज्ञानशीलसम्पन्नः ।
वीर्यमनिगूहमानः शक्त्यनुरूपप्रयत्नेन ॥२९७॥

अर्थ : जो साधु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से सम्पन्न होता है, अपनी शक्ति को छुपाये वगैर शक्ति के अनुसार जो प्रवचनोक्त संयम के पालन में प्रयत्नशील रहता है ॥२९७॥

संहननायुर्बलकालवीर्यसम्पत्समाधिवैकल्यात् ।
कर्मातिगौरवाद्वा स्वार्थमकृत्वोपरममेति ॥२९८॥

अर्थ : [परन्तु] संघयण, आयुष्य, बल, काल, वीर्य, संपत्ति, चित्तस्वस्थता की विकलता के कारण एवं कर्मों की प्रचुरता [निकाचित कर्म] के कारण स्वार्थ [सकल कर्मक्षय] साधे बिना मर जाता है ॥२९८॥

सौधर्मादिष्वन्यतमकेषु सर्वार्थसिद्धिचरमेषु ।
स भवति देवो वैमानिको महर्द्धिद्युतिवपुष्कः ॥२९९॥

अर्थ : वह साधु सौधर्म देवलोक से लेकर सर्वार्थ-

सिद्धि [अनुत्तर देवलोक] तक के किसी भी देवलोक में महान ऋद्धिवाला, द्युति [तेज] वाला और महान शरीरवाला वैमानिक देव बनता है ॥२९९॥

तत्र सुरलोकसौख्यं चिरमनुभूय स्थितिक्षयात् तस्मात् ।
पुनरपि मनुष्यलोके गुणवत्सु मनुष्यसंघेषु ॥३००॥

अर्थ : वहाँ दीर्घकालपर्यन्त देवलोक का सुख भोगकर, आयुष्य का क्षय होने पर, फिर से मनुष्यलोक में गुणवान मनुष्य-परिवार में ॥३००॥

जन्म समवाप्य कुलबन्धुविभवरूपबलबुद्धिसम्पन्नः ।
श्रद्धा-सम्यक्त्व-ज्ञान-संवर-तपोबलसमग्रः ॥३०१॥

अर्थ : जन्म पाकर कुल, स्वजन, संपत्ति, रुप, बल और बुद्धि से संपन्न होता है एवं श्रद्धा, सम्यक्त्व, ज्ञान, संवर और तपोबल से पूर्ण होता है ॥३०१॥

पूर्वोक्त भावनाभिर्भावितान्तरात्मा विधूतसंसारः ।
सेत्स्यति ततः परं वा स्वर्गान्तरितस्त्रिभवभावात् ॥३०२॥

अर्थ : पहले कही गयी बारह भावनाओं से भावित वह अन्तरात्मा संसार का त्यागी बनता है । इसके बाद बीच में देवलोक में जाकर तीसरे भव में [मनुष्य के भव में] वह मुक्ति को प्राप्त करेगा ॥३०२॥

यश्चेह जिनवरमते गृहाश्रमी निश्चितः सुविदितार्थः ।
दर्शन-शील-व्रतभावनाभिरभिरञ्जितमनस्कः ॥३०३॥

अर्थ : इस मनुष्य लोक में, जो गृहस्थ जिनमत में विश्वास रखता है, तत्त्वार्थ को भलीभांति जानता है और सम्यग्दर्शन-शील-व्रत, भावनाओं से अपने मन को वासित रखता है ॥३०३॥

स्थूलवधानृतचौर्यपरस्त्रीरत्यरतिवर्जितः सततम् ।
दिग्व्रतमिह देशावकाशिकमनर्थविरतिं च ॥३०४॥

अर्थ : स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, परस्त्री, रति-अरति का सतत त्याग करता है । दिशाव्रत, देशावकारिक व्रत, अनर्थदण्डविरति व्रत ॥३०४॥

सामायिकं च कृत्वा पौषधमुपभोगपारिमाण्यं च ।
न्यायागतं च कल्प्यं विधिवत् पात्रेषु विनियोज्यम् ॥३०५॥

अर्थ : सामायिकव्रत, पौषधव्रत और भोगोपभोग-परिमाण करके न्यायपूर्वक उपार्जित किये हुए अन्नादि द्रव्य को विधिपूर्वक सुपात्र में देता है ॥३०५॥

चैत्यायतनप्रस्थापनानि कृत्वा च शक्तितः प्रयतः ।
पूजाश्च गन्धमाल्याधिवासधूपप्रदीपाद्याः ॥३०६॥

अर्थ : शक्ति के मुताबिक प्रयत्नपूर्वक चैत्यालयों की प्रतिष्ठा करके, गंध-माला-अधिवास-धूप-दीपक वगैरह से

पूजा करता है ॥३०६॥

प्रशमरतिनित्यतृषितो जिन-गुरु-साधुजनवन्दनाभिरतः ।
संलेखनां च काले योगेनाराध्य सुविशुद्धाम् ॥३०७॥

अर्थ : प्रशमभाव की प्रीति में सदा प्यासा, तीर्थंकर-आचार्य-साधुपुरुषों के वंदन में अभिरत, मृत्युसमय में सुविशुद्धि संलेखना की ध्यान से आराधना करता है ॥३०७॥

प्राप्तः कल्पेष्विन्द्रत्वं वा सामानिकत्वमन्यद्वा ।
स्थानमुदारं तत्रानुभूय च सुखं तदनुरूपम् ॥३०८॥

अर्थ : [वह गृहस्थ] सौधर्म वगैरह देवलोक में इन्द्रपदवी, सामानिक देवपदवी या अन्य कोई विशिष्ट देवत्व प्राप्त करता है। वहाँ उस स्थान के अनुरुप सुखभोग करके ॥३०८॥

नरलोकमेत्य सर्वगुणसम्पदं दुर्लभां पुनर्लब्ध्वा ।
शुद्धः स सिद्धिमेष्यति भवाष्टकाभ्यन्तरे नियमात् ॥३०९॥

अर्थ : मनुष्य लोक में जन्म लेकर, फिर से दुर्लभ सर्वगुणों की संपत्ति को प्राप्त करके, शुद्ध-बुद्ध हुई वह आत्मा मोक्ष में जाती है। आठ भव में तो वह अवश्यमेव सिद्धि प्राप्त करती है ॥३०९॥

इत्येवं प्रशमरतेः फलमिह स्वर्गापवर्गयोश्च शुभम् ।
सम्प्राप्यतेऽनगारैरगारिभिश्चोत्तरगुणाढ्यैः ॥३१०॥

अर्थ : इस तरह उत्तरगुणों से [मूलगुणों से भी] समृद्ध अणगार एवं गृहस्थ प्रशमरति का स्वर्ग-अपवर्ग रूप शुभ फल प्राप्त करते हैं ॥३१०॥

जिनशासनार्णवादाकृष्टां धर्मकथिकामिमां श्रुत्वा ।
रत्नाकरादिव जरत्कपर्दिकामुद्धृतां भक्त्या ॥३११॥

अर्थ : समुद्र में से निकाली हुई जीर्ण कौड़ी जैसी, जिनशासनरूप समुद्र में से उद्धृत इस धर्मकथा को [प्रशमरति को] भक्तिभाव से सुनकर ॥३११॥

सद्भिर्गुणदोषज्ञैर्दोषानुत्सृज्य गुणलवा ग्राह्याः ।
सर्वात्मना च सततं प्रशमसुखायैव यतितव्यम् ॥३१२॥

अर्थ : गुणदोष के ज्ञाता सज्जनों को, दोषों को छोड़कर थोड़े भी गुणों को ग्रहण करने चाहिए और प्रशमसुख के लिए हमेशा सभी तरह के विशेष प्रयत्न करने चाहिए ॥३१२॥

यच्चासमंजसमिह छन्दःशब्दसमयार्थतोऽभिहितम् ।
पुत्रापराधवन्ममर्षयितव्यं बुधैः सर्वम् ॥३१३॥

अर्थ : इस प्रशमरति में मैंने जो कुछ भी छन्दशास्त्र-शब्दशास्त्र और आगम अर्थ की दृष्टि से असंगत या विसंगत कहा हो उसके प्रवचनवृद्धजनों को, पुत्र के अपराध को जैसे

पिता क्षमा कर देता है उस तरह क्षमा कर देना चाहिए ॥३१३॥

सर्वसुखमूलबीजं सर्वार्थविनिश्चयप्रकाशकरम् ।
सर्वगुणसिद्धिसाधनधनमर्हच्छासनं जयति ॥३१४॥

अर्थ : सारे सुखों के मूल बीजरूप, सकल अर्थ के निर्णय को प्रगट करनेवाला और सभी गुणों की सिद्धि के लिए धन की भांति साधनरूप जिनशासन जयशील होता है ॥३१४॥

● ● ●

अहो ! श्रुतम् स्वाध्याय संग्रह में प्रकाशित होनेवाले हिन्दी ग्रन्थो का विवरण

१. जीवविचार - नवतत्त्व
२. दंडक - लघु संग्रहणी
३. भाष्यत्रयम् - चैत्यवंदन / गुरुवंदन / पच्चखाण भाष्य
४. कर्मग्रंथ १-२-३
५. ज्ञानसार
६. उपदेशमाला
७. अध्यात्मसार
८. शान्तसुधारस
९. प्रशमरति
१०. वैराग्यशतक - इन्द्रिय पराजय शतक
११. अध्यात्म कल्पद्रुम
१२. अष्टक प्रकरण
१३. तत्त्वार्थसूत्र
१४. वीतरागस्तोत्रम्
१५. लघु क्षेत्र समास
१६. बृहद् संग्रहणी

● ● ●

श्री आशापूरण पार्श्वनाथ जैन ज्ञानभण्डार परिचय

(१) शा. सरेमल जवेरचंदजी बेडावाला परिवार द्वारा स्वद्रव्य से संवत् २०६३ में निर्मित...

(२) गुरुभगवंतो के अभ्यास के लिये २५०० प्रताकार ग्रंथ व २१००० से ज्यादा पुस्तको के संग्रह में से ३३००० से ज्यादा पुस्तके इस्यु की है...

(३) श्रुतरक्षा के लिए ४५ हस्तप्रत भंडारो को डिजिटाईजेशन के द्वारा सुरक्षित किया है और उस में संग्रहित ८०००० हस्तप्रतो में से १८०० से ज्यादा हस्तप्रतो की झेरोक्ष विद्वान गुरुभगवंतो को संशोधन संपादन के लिये भेजी है...

(४) जीर्ण और प्राय: अप्राप्य २२२ मुद्रित ग्रंथो को डिजिटाईजेशन करके मर्यादित नकले पुन: प्रकाशित करके श्रुतरक्ष व ज्ञानभंडारो को समृद्ध बनाया है...

(५) अहो ! श्रुतज्ञानम् चातुर्मासिक पत्रिका के ४६ अंक श्रुतभक्ति के लिये स्वद्रव्य से प्रकाशित किये है...

(६) ई-लायब्रेरी के अंतर्गत ९००० से ज्यादा पुस्तको का डिजिटल संग्रह पीडीएफ उपलब्ध है, जिसमें से गुरुभगवंतो की जरुरियात के मुताबिक मुद्रित प्रिन्ट नकल भेजते है...

(७) हर साल पूज्य साध्वीजी म.सा. के लिये प्राचीन लिपि (लिप्यंतरण) शीखने का आयोजन...

(८) बच्चों के लिये अंग्रेजी में सचित्र कथाओं को प्रकाशित करने का आयोजन...

(९) अहो ! श्रुतम् ई परिपत्र के द्वारा अद्यावधि अप्रकाशित आठ कृतिओं को प्रकाशित की है...

(१०) नेशनल बुक फेर में जैन साहित्य की विशिष्ट प्रस्तुति एवं प्रचार प्रसार।

(११) पंचम समिति के विवेकपूर्ण पालन के लिये उचित ज्ञान का प्रसार एवं प्रायोगिक उपाय का आयोजन।

(१२) चतुर्विध संघ उपयोगी प्रियम् के ६० पुस्तको का डिजिटल प्रिन्ट द्वारा प्रकाशन व गुरुभगवंत व ज्ञानभंडारो के भेट।

● ● ●

: ज्ञान द्रव्य से लाभार्थी :

श्री मुनिसुव्रतस्वामी श्वेताम्बर मूर्ति पूजक जैन संघ

210/212, कोकरन बेसिन रोड,
विद्यासागर ओसवाल गार्डन,
कुरूक्कुपेट, चेन्नई 600021

BALARAM OFFSET
+91-9898034899